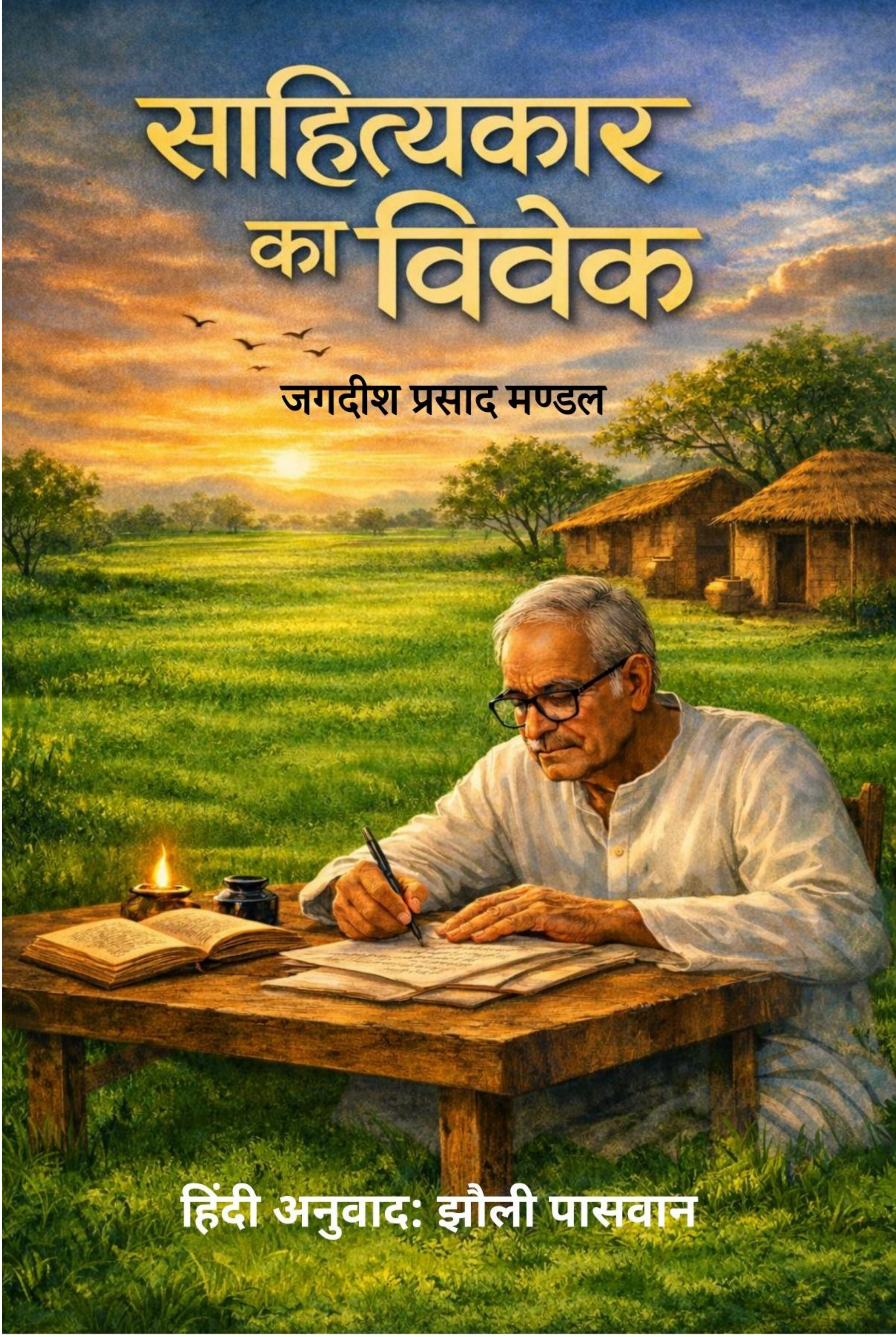

साहित्यकार का विवेक

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद: झौली पासवान

साहित्यकारक विवेक

मैथिली कथा संग्रह

जगदीश प्रसाद मण्डल

साहित्यकार का विवेक

हिंदी अनुवाद

झौली पासवान

साहित्यकार का विवेक

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

झौली पासवान

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

SAHITYAKAR KA VIVEK

Collection of Maithili stories
Original Author: Jagdish Prasad Mandal
Hindi translation: Shri. Jhauli Paswan

Sahityakar Ka Vivek is an English translation of selected short stories that explore literature as a moral and social practice. Deeply rooted in rural life, these narratives engage with human dignity, social responsibility, gender sensitivity, caste realities, and the ethical dilemmas of everyday existence. The collection's strength lies in its reflective depth, restrained narration, and attentive observation of human conduct, where moral judgment arises organically from lived experience rather than overt or dramatic assertion.
The original author, Jagdish Prasad Mandal, is a significant voice in contemporary Indian fiction, widely recognized for his sustained engagement with rural society, labor culture, and ethical realism. His literary contributions have been honored with the Tagore Literature Award (2011), the Sahitya Akademi Award (2021), and the Videha Samman etc.
This translation preserves the cultural texture and moral nuance of the original works, offering English readers an authentic experience of socially grounded Indian storytelling shaped by literary conscience and humane insight.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-46-5
Price: 399/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

उन सब लोगों को समर्पित

जिनकी रचनाधर्मिता और विवेक जीवन को दिशा और अर्थ प्रदान करते हैं।

- झौली पासवान

अनुक्रमः

प्रस्तावना

परिवार का योग

मनुष्य खौक

साहित्यकार का विवेक

भाषा की पीड़ा

समझ ही नहीं पाए

जीवन के संबंध

गैंचाह लोग

जीवन को साधने की दौड़

अंतिम आशा

अराजक सामूहिक मारपीट

कन्हजोड़

अनहोनी

नियति

भूमिका

साहित्यकार का विवेक एक ऐसा कथा-संग्रह है जो साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु न मानकर सामाजिक चेतना, नैतिक उत्तरदायित्व और मानवीय दृष्टि का सशक्त माध्यम बनाता है। इस संग्रह की कहानियाँ उन जीवन-स्थितियों से जन्म लेती हैं जहाँ मनुष्य अपने दैनिक निर्णयों में विवेक, आस्था, भय और साहस की कसौटी पर स्वयं को परखता है। यहाँ कथा किसी असाधारण घटना का आख्यान नहीं, बल्कि साधारण जीवन में निहित असाधारण सच्चाइयों को उजागर करती है।

इस संग्रह की केन्द्रीय अवधारणा 'विवेक' है। विवेक यहाँ किसी अमूर्त दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में उपस्थित नहीं होता। वह मनुष्य के व्यवहार, उसके मौन निर्णयों और सामाजिक परिस्थितियों में उसकी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से सामने आता है। ये कहानियाँ स्पष्ट करती हैं कि विवेक घोषणाओं में नहीं पहचाना जाता। उसका वास्तविक स्वरूप आचरण में दिखाई देता है। जब व्यक्ति सत्ता, परम्परा, सामूहिक दबाव या भय के बीच सही और गलत का चुनाव करता है, तभी विवेक अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है।

इन कथाओं की प्रमुख विशेषता यह है कि वे पाठक पर किसी निष्कर्ष को थोपती नहीं हैं। कथा-स्थितियाँ पाठक के समक्ष रख दी जाती हैं और निर्णय का दायित्व उसके अनुभव-बोध पर छोड़ दिया जाता है। इसी कारण यह संग्रह पाठक को सक्रिय सहभागी बनाता है। वह घटनाओं का साक्षी बनता है, पात्रों के साथ चलता है और अंततः स्वयं से प्रश्न

करता है। यही प्रश्न साहित्य को जीवंत और अर्थपूर्ण बनाते हैं।

इस संग्रह का मूल लेखन जगदीश प्रसाद मण्डल की दीर्घकालिक साहित्यिक साधना का परिणाम है। उनकी कथाओं का संसार ग्रामीण भारत से निर्मित है, जहाँ जीवन श्रम, अभाव, परम्परा और सामूहिकता से गहराई से जुड़ा हुआ है। उनका लेखन किसी एक विचारधारा का प्रचार नहीं करता, बल्कि समाज को उसकी सम्पूर्ण जटिलता में देखने का प्रयास करता है। जाति, श्रम, स्त्री-संवेदना, धार्मिक आस्था, साम्प्रदायिक तनाव, पारिवारिक उत्तरदायित्व और नैतिक द्वंद्व, ये सभी तत्व उनकी कहानियों में जीवन की स्वाभाविक गति के साथ उपस्थित होते हैं।

जगदीश प्रसाद मण्डल की रचनाधर्मिता की सबसे बड़ी शक्ति उनकी जीवन-दृष्टि है। वे समाज को किसी बाहरी निरीक्षक की भाँति नहीं देखते, बल्कि उसी सामाजिक और मानवीय परिवेश के भीतर रहकर जीवन को समझते, अनुभव करते और रचते हैं। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व किसी विचारधारा के प्रचार से निर्मित नहीं हुआ है; वह जीवन के सतत संघर्ष, श्रम और मानवीय संबंधों से आकार ग्रहण करता है। इसी कारण उनकी कहानियों में संवेदना किसी भाषण की तरह उपस्थित नहीं होती, बल्कि पात्रों के स्वभाव, उनकी चुप्पी, उनके निर्णय और व्यवहार में स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होती है।

मण्डलजी के पात्र किसी सिद्धांत के प्रतिरूप बनकर नहीं आते। वे अपने समय की सीमाओं, सामाजिक दबावों और आंतरिक विरोधाभासों के साथ कथा में प्रवेश करते हैं। लेखक न तो उन्हें ऊँचा उठाकर आदर्श बनाता है और न ही दोषारोपण की दृष्टि से देखता है। इस संतुलित दृष्टिकोण के कारण पाठक पात्रों से दूरी महसूस नहीं करता; बल्कि उनके माध्यम से अपने ही जीवन के प्रश्नों से आमने-सामने होता है। यही दृष्टि ‘साहित्यकार का विवेक’ की मूल चेतना से गहराई से जुड़ती है, जहाँ विवेक व्यवहार में प्रकट होता है और सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में

आकार लेता है।

जगदीश प्रसाद मण्डल का रचनात्मक विवेक उन्हें जीवन की कठिन सच्चाइयों से दृष्टि हटाने नहीं देता। वे सामाजिक अन्याय, भय, दबाव और नैतिक दुविधाओं को उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिस रूप में वे समाज में अनुभव किए जाते हैं। उनकी कथाएँ न तो भावुक अतिशयोक्ति का सहारा लेती हैं और न ही कटु आरोपों की भाषा अपनाती हैं। उनमें धैर्य, संतुलन और मानवीय समझ का स्पष्ट स्वर सुनाई देता है। यही संयम और गहराई उनकी रचनाओं को विश्वसनीय बनाती है और 'साहित्यकार का विवेक' को एक विचारोत्तेजक तथा संवेदनशील कथा-संग्रह के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

अनुवाद का कार्य इस संग्रह की आत्मा को एक नई भाषा और संस्कृति तक पहुँचाने का माध्यम है। किसी भी साहित्यिक अनुवाद का महत्व शब्दांतरण तक सीमित नहीं रहता। उसका वास्तविक मूल्य संवेदना, सांस्कृतिक संकेतों और भावात्मक लय के स्थानांतरण में निहित होता है। इस संग्रह के अनुवादक ने इस चुनौती को गंभीरता और संवेदनशीलता के साथ स्वीकार किया है। मूल कथाओं की सांस्कृतिक बनावट, संवादों की सहजता, ग्रामीण जीवन की लय और नैतिक संकेतों को अंग्रेज़ी पाठ में सुरक्षित रखने का प्रयास यहाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

अनुवादक का साहित्यिक विवेक इस तथ्य में प्रकट होता है कि अनुवाद मूल कथा पर हावी नहीं होता। भाषा पाठक को सहज और प्रवाहपूर्ण लगती है, फिर भी वह उस सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश से जुड़ी रहती है जहाँ से कथा जन्म लेती है। ग्रामीण शब्दावली, सामाजिक संकेत और भावनात्मक उतार-चढ़ाव को अनावश्यक व्याख्या से मुक्त रखते हुए प्रस्तुत किया गया है। परिणामस्वरूप पाठक बिना किसी बाहरी मार्गदर्शन के स्वतः कथा-जगत में प्रवेश कर जाता है।

इस संग्रह की कहानियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि साहित्य केवल समाज का आईना नहीं होता, बल्कि वह समाज की अंतरात्मा से भी संवाद करता है। जब किसी कथा में दहेज, प्रेम-विवाह, सामूहिक हिंसा, धार्मिक आस्था या सामाजिक बहिष्कार जैसी स्थितियाँ सामने आती हैं, तब लेखक समाधान प्रस्तुत करने के बजाय प्रश्न उठाता है। यही प्रश्न पाठक के भीतर नैतिक चेतना को जाग्रत करते हैं।

कथा-आधारित विवेक की यह परम्परा भारतीय साहित्य में लम्बे समय से विद्यमान रही है। इस संग्रह की कहानियाँ उसी परम्परा को आधुनिक सामाजिक संदर्भों में आगे बढ़ाती हैं। यहाँ परम्परा और परिवर्तन के बीच का संघर्ष स्पष्ट रूप से उभरकर आता है। पात्र आधुनिक शिक्षा, सामाजिक बदलाव और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से परिचित हैं, फिर भी वे परम्परागत संरचनाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाते। इस द्वंद्व की संवेदनशील प्रस्तुति इन कहानियों को समकालीन बनाती है।

इस प्रस्तावना का उद्देश्य इन कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत करना नहीं है। इसका लक्ष्य उस पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना है जहाँ से ये कथाएँ पाठक से संवाद स्थापित करती हैं। यह संग्रह पाठक से सहमति की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि उसे सोचने के लिए आमंत्रित करता है। आज के समय में, जब विचारों का शोर और त्वरित निष्कर्ष सामाजिक व्यवहार को प्रभावित कर रहे हैं, तब ऐसे साहित्य की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है जो धैर्य, संवेदना और विवेक की माँग करे।

साहित्यकार का विवेक इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह संग्रह इस विश्वास को सुदृढ़ करता है कि साहित्य का सबसे बड़ा मूल्य उसकी मानवीय दृष्टि में निहित होता है। जब कोई कथा मनुष्य को अपने भीतर झाँकने के लिए विवश कर दे, तभी साहित्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है। यह संग्रह उसी दिशा में एक सशक्त, संवेदनशील और ईमानदार प्रयास है।

इस बिंदु पर यह समझना उपयोगी है कि इस संग्रह की कहानियाँ किसी एक विषय-रेखा तक सीमित नहीं हैं। वे जीवन के अलग-अलग मोड़ों से जन्म लेती हैं और उसी सहज प्रवाह में आगे बढ़ती हैं, जैसे गाँव-समाज की दिनचर्या बहती है। कहीं परिवार के भीतर का तनाव उभरता है, कहीं भय और आस्था का टकराव दिखाई देता है, कहीं भाषा के सहारे बचा हुआ अपनापन है, तो कहीं भीड़ के उन्माद में दबता हुआ न्याय। इन विविध प्रसंगों के बीच एक साझा धड़कन लगातार सुनाई देती है, मनुष्य का निर्णय, उसका संकोच, उसकी चुप्पी, और वह क्षण जब वह अपने भीतर सही का चुनाव करने का साहस करता है। आगे दिए गए विषय-संकेत इसी बहुरंगी संसार के द्वार हैं, जो पाठक को कथाओं में प्रवेश करते हुए उनके अनुभव-क्षेत्र और नैतिक प्रश्नों को एक साथ समझने में सहायक होते हैं।

परिवार का योग:

“परिवार का योग” कथा परिवार की आंतरिक बनावट, पीढ़ियों के बीच उत्तरदायित्व और व्यक्ति के विवेक के संतुलन को केंद्र में रखती है। रतनपुर गाँव की सामाजिक संरचना और कुसुमलाल बाबा के संयुक्त परिवार के संदर्भ से यह बात उभरकर आती है कि परिवार कोई जड़ या तयशुदा इकाई नहीं होता। वह समझ, धैर्य और व्यवहार के सहारे निरंतर आकार लेता हुआ एक जीवित तंत्र है, जहाँ संबंध निभाए जाते हैं, परखे जाते हैं और समय के साथ नए अर्थ ग्रहण करते हैं।

गुलटेन की मानसिक अस्थिरता, पलायन की आकांक्षा और आत्मविनाशक प्रवृत्ति उस दबाव को उजागर करती है, जिसमें व्यक्ति पारिवारिक जटिलताओं से मुक्ति का मार्ग तलाशता है। कुसुमलाल बाबा के संवाद कथा का वैचारिक आधार निर्मित करते हैं और यह संकेत देते हैं कि समस्याओं का समाधान दूरी बनाकर संभव नहीं होता। समाधान संबंधों को नए सिरे से समझने और उनके भीतर आगे बढ़ने की क्षमता

विकसित करने में निहित रहता है।

कथा यह रेखांकित करती है कि परिवार की स्थिरता उपदेशों से नहीं उपजती; वह समयानुकूल विवेक, संयम और श्रमशील आचरण से आकार लेती है। इसी कारण "परिवार का योग" व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन को अभिव्यक्त करने वाली एक सार्थक कथा के रूप में उभरती है।

मनुष्य खौक:

"मनुष्य खौक" कथा आधुनिक जीवन की असुरक्षा, भय और आस्था के परिवर्तित स्वरूप को उजागर करती है। सड़क, दौड़, योग और स्वास्थ्य-चिंता से आरंभ होकर कथा क्रमशः उस मानसिक अवस्था तक पहुँचती है, जहाँ मनुष्य अपने ही अस्तित्व को लेकर अनजाने भय से घिर जाता है।

घुरनी दादी के संवाद कथा का केंद्रीय बिंदु बनते हैं, जिनके माध्यम से यह दृष्टि उभरती है कि मनुष्य और देवी-देवता- दोनों ही लोभ, भय और स्वार्थ से संचालित होते हैं। कथा यह संकेत देती है कि आधुनिकता के साथ जीवन की गति तो तेज हुई है, किंतु विवेक का संतुलन डगमगा गया है।

श्रम, धर्म, परंपरा और आस्था के बीच बढ़ती दूरी मनुष्य को भीतर से अस्थिर करती है। इस अर्थ में "मनुष्य खौक" मानवीय चेतना की कथा है, जो भय के मूल स्रोतों को पहचानने और समझने का प्रयास करती है तथा यह भी दर्शाती है कि अंधविश्वास और आधुनिकता के बीच फँसा मनुष्य किस प्रकार विवेक के गहरे संकट से जूझ रहा है।

साहित्यकार का विवेक:

"साहित्यकार का विवेक" कथा साहित्यिक संसार के भीतर मौजूद मानवीय तनाव, रचनात्मक असुरक्षा और निजी जीवन की जटिलताओं

को प्रभावी ढंग से उजागर करती है। साहित्यिक संगोष्ठी का परिवेश बाहरी चमक-दमक और बौद्धिक संवाद का मंच बनता है, जहाँ लेखक एक-दूसरे से घिरे होते हुए भी भीतर से अकेले रहते हैं। हरहू भाई का कथन इस सच्चाई को सामने लाता है कि साहित्यिक पहचान सामाजिक सम्मान तो दिला सकती है, पर निजी जीवन के संकटों का समाधान नहीं कर पाती। मंच पर लेखक की उपस्थिति सशक्त दिखाई देती है, लेकिन उसका मन भीतर से लगातार डगमगाता रहता है।

कथा का दूसरा पक्ष पारिवारिक असंतुलन और रचनात्मक जीवन के टकराव को रेखांकित करता है। हरहू भाई के अनुभव से स्पष्ट होता है कि वर्षों का साहित्य-सृजन भी पारिवारिक समझ और भावनात्मक स्वीकार्यता की कमी को पूरा नहीं कर सकता। पत्नी और साहित्य-जगत, दोनों की अपेक्षाएँ लेखक को विपरीत दिशाओं में खींचती हैं। यह द्वंद्व लेखक के आत्मसम्मान, उसकी संवेदना और उसकी भाषा को प्रभावित करता है। यहाँ साहित्य साधना नहीं रह जाता, बल्कि संघर्ष का एक और क्षेत्र बन जाता है, जहाँ लेखक को अपने ही अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है।

तीसरे स्तर पर कथा साहित्यकार के विवेक को प्रश्नों के घेरे में रखती है। दिग्दर्शन भाई के संवाद यह संकेत देते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी भाषा, अपनी गति और अपने निर्णय होते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन, पारिवारिक दायित्व और व्यक्तिगत भावनाएँ किसी एक सूत्र में बँधकर नहीं चलतीं। "साहित्यकार का विवेक" इस समझ की ओर ले जाती है कि रचना और जीवन के बीच संतुलन स्थापित करना लेखक का सबसे कठिन कार्य है। यही विवेक लेखक को टूटने से बचाता है और उसे अपनी भाषा तथा अपने अनुभव के प्रति ईमानदार बनाए रखता है।

भाषा की पीड़ा:

"भाषा की पीड़ा" कथा विस्थापन के दर्द के साथ भाषा की स्मृति

और पहचान को गहरे स्तर पर जोड़ती है। गाँवों के उजड़ने, लोगों के पलायन और बदलती जीवन-स्थितियों की पृष्ठभूमि में यह कथा दिखाती है कि जब मनुष्य अपनी जमीन छोड़ता है, तो उसके साथ उसकी बोली, उसके शब्द और उसके भाव भी अनिश्चितता में चले जाते हैं। दिल्ली जैसे महानगर में पहुँचकर सियालाल काका का अकेलापन, दिन भर का सूना समय और अपनेपन की तलाश उस मनोदशा को उजागर करती है, जहाँ मनुष्य भीड़ में रहते हुए भी भीतर से कट जाता है।

कथा का केंद्र सियालाल काका और मुनेसर बाबू की भेंट है। मैथिली बोली की पहचान एक ऐसे पुल का कार्य करती है, जो अजनबी शहर में भरोसा और अपनापन पैदा करती है। मुनेसर बाबू का जीवन अनुशासन, जिम्मेदारी और अनुभव से भरा हुआ है। वे शहर की गति को समझते हैं और समय को सँभालकर चलते हैं। सियालाल काका के लिए यह भेंट राहत बन जाती है, क्योंकि वह अपनी भाषा में बोलकर फिर से अपने अस्तित्व को पहचानने लगता है। इस संवाद में गाँव की स्मृति, नौकरी का अतीत, वृद्धावस्था की आवश्यकताएँ और परिवार का बिखराव एक साथ उभरकर सामने आता है।

तीसरे स्तर पर कथा भाषा को केवल भावुक गर्व की वस्तु नहीं मानती, बल्कि उसे जीवन की यात्रा से जुड़ी सच्चाई के रूप में प्रस्तुत करती है। सियालाल काका भाषा की मिठास पर ठहरते हैं, जबकि मुनेसर बाबू भाषा-बोध को अनुभव और विवेक से जोड़ते हैं। यहाँ भाषा मनुष्य की पहचान भी है और उसकी सीमाओं का संकेत भी। कथा इस समझ की ओर ले जाती है कि भाषा का जन्म, उसका विस्तार और उसका संकट मनुष्य के जीवन-प्रवाह से गहराई से जुड़ा रहता है। इसी कारण “भाषा की पीड़ा” विस्थापन के दौर में भाषा के सहारे बची हुई मनुष्यता की सशक्त कथा बन जाती है।

समझ ही नहीं पाए:

"समझ ही नहीं पाए" कथा सामाजिक आंदोलन, सत्ता की प्रतिक्रिया और साधारण नागरिक की असहाय स्थिति को प्रभावी रूप से सामने लाती है। भाषा और साहित्य के विस्तार के लिए निकला जुलूस अचानक गिरफ्तारी और जेल तक पहुँच जाता है। कथाकार का अनुभव यह संकेत देता है कि जेल तक पहुँचने का मार्ग अपराध से ही निर्धारित नहीं होता। कई बार परिस्थितियाँ और सामूहिक आंदोलनों की जटिलताएँ भी मनुष्य को वहाँ ला खड़ा करती हैं। भय, भ्रम और अनिश्चितता के वातावरण में यह प्रश्न उभरता है कि जिनका जीवन भाषा, समाज और विचार से जुड़ा रहा है, वे अचानक अपराध की श्रेणी में कैसे समाहित कर दिए जाते हैं।

कथा का दूसरा स्तर जेल के भीतर बने एक अस्थायी समाज को उद्घाटित करता है। साहित्यकारों का समूह अलग वार्ड में सिमट जाता है, जहाँ अधिकार की लड़ाई से आया व्यक्ति अपने ही समाज से कटा हुआ महसूस करता है। जेल की दिनचर्या, खेल, भोजन और आदेशों के बीच यह स्पष्ट होता है कि पढ़ा-लिखा और संवेदनशील व्यक्ति भी व्यवस्था के सामने कितना असहाय हो सकता है। कथाकार अपने मन को समझाने का प्रयास करता है कि सामाजिक स्तर में परिवर्तन के साथ संबंध टूटते भी हैं और नए रूप में बनते भी हैं।

तीसरे स्तर पर कथा जेल में मिले अन्य कैदियों के अनुभवों को जोड़कर सामाजिक यथार्थ को और व्यापक बनाती है। रविकान्त भाई का पारिवारिक विवाद और रूद्रनाथ का नशे में हुआ अपराध यह संकेत देता है कि कई बार व्यक्ति अपने किए का अर्थ बहुत बाद में समझ पाता है। "समझ ही नहीं पाए" का मूल भाव यही है कि सामाजिक तनाव, नशा, उत्तेजना और परिस्थितियाँ मनुष्य को ऐसे मोड़ पर पहुँचा देती हैं, जहाँ वह स्वयं को भी स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाता। कथा इस विवशता को उजागर

करती है और यह प्रश्न छोड़ जाती है कि गलती, दंड और समझ के बीच की दूरी समाज किस प्रकार तय करता है।

जीवन के संबंध:

"जीवन के संबंध" कथा सम्मान, आत्मचिंतन और सामाजिक उत्तरदायित्व के आपसी संबंधों को सधी हुई संवेदनशीलता के साथ सामने लाती है। साहित्यिक सम्मान प्राप्त होने के बाद दिनेश भाई का मन बाहरी उत्सव से अधिक भीतर की यात्रा में प्रवेश करता है। साढ़े चार बजे का समय, जो दिन और रात की सीमा पर ठहरा हुआ है, उनके मानसिक संक्रमण का प्रतीक बन जाता है। यह क्षण उन्हें अपने अब तक के जीवन, सेवा, साहित्य और समाज के प्रति अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करता है। यहाँ सम्मान उपलब्धि से अधिक दायित्व का संकेत बनकर उभरता है।

कथा का दूसरा स्तर समाज, साहित्य और जीवन के ऐतिहासिक तथा वैचारिक संबंधों की पड़ताल करता है। दिनेश भाई का चिंतन निर्गुण और सगुण, शब्द और वस्तु तथा परंपरा और परिवर्तन की बहसों तक विस्तार पाता है। वे अनुभव करते हैं कि साहित्य और समाज एक-दूसरे से अलग नहीं रहते, बल्कि समय के साथ दोनों की दिशा और दशा निरंतर बदलती रहती है। इतिहास, भूगोल, भोजन, ग्रामीण जीवन और सांस्कृतिक स्मृति उनके विचार-जगत का हिस्सा बनते हैं। यहाँ साहित्य किसी एक विचारधारा का विस्तार न रहकर सामाजिक अनुभवों का जीवंत रूप बन जाता है।

तीसरे स्तर पर कथा समाज के साथ जीवित और सक्रिय संबंध की पुष्टि करती है। सुदामा दादी का आशीर्वाद और अन्य गाँवों से पहुँची शुभकामनाएँ यह दर्शाती हैं कि समाज अपने प्रतिनिधियों को पहचानता भी है और उनसे अपेक्षाएँ भी रखता है। दिनेश भाई का उठकर समाज की ओर बढ़ना इस बात का संकेत है कि साहित्यकार की भूमिका केवल मंच

तक सीमित नहीं रहती। "जीवन के संबंध" इस बोध तक ले जाती है कि जीवन, समाज और साहित्य के बीच संबंध विचारों से आगे बढ़कर निरंतर संवाद और सहभागिता के माध्यम से आकार लेते हैं। यही संबंध व्यक्ति को उसकी दिशा प्रदान करते हैं और समाज को उसकी पहचान गढ़ने में सहायक होते हैं।

गैंचाह लोग:

"गैंचाह लोग" कथा पीढ़ियों के अनुभव, सामाजिक परिवर्तन और मनुष्य की सोच में आए सूक्ष्म बदलावों को संवेदनशीलता के साथ सामने रखती है। सूरतलाल काका चौकी पर बैठे हुए अपने जीवन, समाज और पुराने साथियों के संबंधों पर विचार करते हैं। उनके चिंतन में यह पीड़ा उभरती है कि समाज से दूरी कैसे बनती है और कुछ लोग समय के साथ कैसे जुड़े रहते हैं। कथा यह संकेत देती है कि गरीबी, श्रम और नैतिक दृष्टि से जुड़ा व्यक्ति समाज की मूल आत्मा को अपने भीतर सुरक्षित रखता है, चाहे बाहरी दुनिया कितनी ही बदल क्यों न जाए।

कथा का दूसरा स्तर संवाद के माध्यम से पुराने और नए समय के टकराव को उभारता है। भूत, आम की चोरी, मोबाइल और बदलती सामाजिक आदतें प्रतीक रूप में सामने आती हैं। सूरतलाल काका के अनुभव बताते हैं कि पहले जो डर और अनुशासन लोकजीवन में मौजूद था, वह अब तकनीक और नए लोभों में रूपांतरित हो गया है। मोबाइल, बाबाजी और बाजार की ताकतें समाज के नए शिकारी बनकर उभरती हैं, जिनसे बच पाना उतना ही कठिन है जितना पुराने जाल से निकलना। यहाँ 'गैंचाह' गति समय की उस चाल को दर्शाती है, जिसमें समाज बिना रुके आगे बढ़ता रहता है।

तीसरे स्तर पर कथा मित्रता, कला-बोध और व्यक्तित्व की भिन्नताओं को रेखांकित करती है। सूरतलाल काका और प्रभुलाल की लंगोटिया दोस्ती जीवन भर की संगत का प्रतीक बनती है। दोनों का

स्वभाव अलग होने के बावजूद उनका संबंध समय की कसौटी पर खरा उतरता है। सूरतलाल काका यह स्वीकार करते हैं कि वस्तु की बारीकी और शब्द की लोच हर व्यक्ति में समान नहीं होती। “गैंचाह लोग” इस बोध तक पहुँचाती है कि समाज में टिके रहने के लिए समय के साथ चलना आवश्यक है, लेकिन अपनी मूल दृष्टि और अनुभव को सँजोकर रखना उससे भी अधिक जरूरी है।

जीवन को साधने की दौड़:

“जीवन को साधने की दौड़” कथा आधुनिक दिखावे, घरेलू जीवन की वास्तविकता और आत्मचिंतन से उपजे तनाव को सधे हुए ढंग से सामने लाती है। जेठ की तपती गर्मी और रोजमर्रा की दिनचर्या के बीच भागीरथ भाई का कोचीन से लौटना कथा का आरंभिक दृश्य बनता है। यात्रा की ताजगी और बाहरी प्रसन्नता के बावजूद घर का वातावरण एक भिन्न सच उजागर करता है, जहाँ पत्नी की सहजता और पति का कठोर स्वर एक साथ उभरते हैं। भागीरथ भाई काम, अनुशासन और समय-पालन की बात करते हैं, किंतु उनके शब्दों में घर के भीतर पनपी दूरी भी स्पष्ट झलकती है। यहाँ आधुनिकता कपड़ों और यात्राओं की चमक में दिखाई देती है, जबकि भीतर मनुष्य का स्वभाव अपने पुराने ढर्रे पर ही चलता रहता है।

कथा का दूसरा स्तर भागीरथ भाई के आत्मविश्लेषण से निर्मित होता है। वे अपने जीवन, समाज, धर्म और परंपरा के अंतर्विरोधों पर दृष्टि डालते हैं। उनके चिंतन में राम, गंगा, दान, नियम और सामाजिक आचरण की अनेक परतें खुलती हैं। वे अनुभव करते हैं कि समाज में शब्द और कर्म के बीच की दूरी लगातार बढ़ी है और समय के साथ धर्म-कर्म की रूपरेखा भी बदलती गई है। यह आत्मचिंतन भागीरथ भाई की मानसिक स्थिति को स्पष्ट करता है, जहाँ वे बाहरी संसार को समेटकर अपने भीतर जीवन की दिशा तय करने का प्रयास करते हैं।

तीसरे स्तर पर कथा देवकान्त और भागीरथ भाई के संवाद के माध्यम से जीवन-दृष्टि का विस्तार करती है। नीलगिरि, समुद्र, पहाड़ और देश-रक्षा जैसे विषय बातचीत में आते हैं और धीरे-धीरे श्रम, शक्ति और जीवन के अर्थ की ओर बढ़ते हैं। भागीरथ भाई यह संकेत देते हैं कि नया जीवन अचानक नहीं मिलता; उसके लिए पुराने जीवन की परतों को समझना और साधना आवश्यक होता है। यही भाव कथा के शीर्षक को सार्थक बनाता है। यह कथा जीवन से पलायन की प्रवृत्ति पर प्रश्न उठाती है और मनुष्य को अपने कर्म, अपने अनुभव और अपने परिवर्तन की जिम्मेदारी स्वीकार करने की ओर लौटने का संकेत देती है।

अंतिम आशा:

“अंतिम आशा” कथा एक छोटे किसान के जीवन, उसके श्रम और भविष्य को लेकर उपजे गहरे असंतोष को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करती है। छठ पर्व की पवित्र सुबह, जो सामान्यतः आस्था और फलदायी विश्वास की प्रतीक मानी जाती है, कृत्यानन्द काका के लिए टूटती उम्मीदों का समय बन जाती है। जीवन के अंतिम चरण में खड़ा यह किसान अपने बीते संघर्षों और वर्तमान परिस्थितियों को एक साथ जोड़कर देखता है। खेती ही उसका संसार रही है और उसी के सहारे उसने परिवार को सँभाला, लेकिन अब वही आधार कमजोर पड़ता हुआ दिखाई देता है।

कथा का दूसरा स्तर पीढ़ियों के बीच चले विचार-संवाद और कृषि जीवन में आए परिवर्तनों को उभारता है। पिता से मिली विरासत, गाय-पालन की योजना, नई किस्म की खेती और सिंचाई के प्रयोग कृत्यानन्द काका की कर्मठता और दूरदृष्टि को दर्शाते हैं। सीमित भूमि में फसल-चक्र, दलहन-तेलहन और चौमास की व्यवस्था उनके व्यावहारिक ज्ञान का प्रमाण बनता है। इसके समानांतर ग्रामीण विकास, जल-जमाव और प्राकृतिक असंतुलन जैसी समस्याएँ यह स्पष्ट करती हैं कि निरंतर मेहनत

के बावजूद किसान का भविष्य अब सुरक्षित नहीं रह गया है।

तीसरे स्तर पर कथा आशा और भय के बीच झूलते किसान-मन को सामने लाती है। नई किस्म की दमाइन, प्रसाद की भावना और बाँटने की उदारता के बीच कृत्यानन्द काका यह स्वीकार करते हैं कि जीवन की बड़ी उम्मीद टूट चुकी है। खेती के तीन मौसम सिमटकर एक पर आ जाना उनके लिए आने वाले संकट का संकेत बन जाता है। "अंतिम आशा" इस बोध तक पहुँचाती है कि किसान का संघर्ष केवल व्यक्तिगत नहीं रहता, बल्कि प्रकृति, समाज और व्यवस्था से जुड़ा सामूहिक प्रश्न बन जाता है, जहाँ आशा बची तो है, लेकिन अत्यंत संकुचित रूप में।

अराजक सामूहिक मारपीट:

"अराजक सामूहिक मारपीट" कथा एक ग्रामीण समाज में फैले तनाव, अव्यवस्था और सामूहिक विवेक के क्षय को प्रभावशाली ढंग से सामने लाती है। दुर्गापूजा जैसे धार्मिक और सामूहिक आयोजन के दौरान हुई मारपीट यह संकेत देती है कि आस्था के स्थल अब सुरक्षित सामाजिक क्षेत्र नहीं रह गए हैं। कथा प्राकृतिक आपदाओं की तुलना सामाजिक हिंसा से करती है और दिखाती है कि जिस तरह बाढ़ बिना भेदभाव सब कुछ बहा ले जाती है, उसी तरह सामाजिक उन्माद भी सही और गलत का अंतर मिटा देता है। यहाँ हिंसा किसी एक घटना तक सीमित नहीं रहती, बल्कि पूरे गाँव की मानसिक स्थिति को प्रभावित करती है।

कथा का दूसरा स्तर समाज में बढ़ती वैमनस्यता और जनतांत्रिक चेतना की कमजोर पड़ती जड़ों को उजागर करता है। जाति, संप्रदाय और आर्थिक हितों के बीच खिंची रेखाएँ सामाजिक सौहार्द को लगातार संकुचित करती जाती हैं। लेखक यह प्रश्न उठाता है कि इतने लंबे ऐतिहासिक अनुभव के बाद भी जनतंत्र जीवन को कितना सहज और मानवीय बना पाया है। विकास, स्वच्छता, आस्था और सुधार की बातें समानांतर रूप से चलती रहती हैं, किंतु व्यवहार में विरोधाभास और तनाव

गहराते जाते हैं। गाँव से शहर की ओर पलायन और बाहर रहकर गाँव की चिंता करना इस विडंबना को और तीखा बना देता है।

तीसरे स्तर पर कथा मनोहर भाई और रामखेलावन के संवाद के माध्यम से हाल की हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करती है। इस बार की मारपीट किसी एक जाति या संप्रदाय तक सीमित नहीं रही, बल्कि समाज के लगभग सभी वर्ग उसमें शामिल हो गए। इसी व्यापक भागीदारी के कारण इस हिंसा को 'गजपट' कहा गया है। कथा यह संकेत देती है कि जब समाज का हर हिस्सा किसी टकराव में खिंच जाता है, तब समस्या किसी एक समूह तक सीमित नहीं रहती। "अराजक सामूहिक मारपीट" इसी बिंदु पर ठहरकर यह सोचने को विवश करती है कि सामाजिक संतुलन कैसे टूटता है और उसे सँभालने की जिम्मेदारी अंततः किसकी होती है।

कन्हजोड़:

"कन्हजोड़" कथा गाँव के सामाजिक ढाँचे में घटित एक साधारण-सी घटना के माध्यम से विवाह, दहेज, अफ़वाह और सामूहिक निर्णय की जटिलता को सामने लाती है। हरेकृष्ण और रोहिणी के भाग जाने की सूचना सुबह-सुबह स्त्रियों की बातचीत, कल के पास की कहा-कही और गली-मुहल्लों की फुसफुसाहट के रूप में फैलती है। यह खबर धीरे-धीरे किसी व्यक्ति की बात न रहकर पूरे समाज का मुद्दा बन जाती है।

कथाकार पत्नी के धार्मिक आचरण और अपने वैचारिक दृष्टिकोण के अंतर से गुजरते हुए गाँव की मानसिकता को देखता है, जहाँ निर्णय तर्क से कम और चर्चाओं से अधिक गढ़े जाते हैं। रतन काका जैसे लोग स्थिति को संतुलन में रखने का प्रयास करते हैं, जबकि बरबरिया जैसे पात्र सूचना को रंग देकर फैलाते हैं।

कथा का केंद्र यह प्रश्न है कि जब बेटी और बेटा सामाजिक मर्यादाओं से बाहर जाकर निर्णय लेते हैं, तब समाज उनके भविष्य को

किस दृष्टि से देखता है। “कन्हजोड़” किसी एक घटना भर की कथा नहीं है, बल्कि उस सामाजिक विवेक की परीक्षा है, जहाँ सहमति, जिम्मेदारी और मानवीय दृष्टि की आवश्यकता सबसे अधिक होती है।

अनहोनी:

“अनहोनी” कथा गाँव की रोजमर्रा की जीवन-लय से आरंभ होकर धीरे-धीरे सामाजिक तनाव की गहरी परतों तक पहुँचती है। भोर के समय बुज़ुर्ग स्त्रियों की बातचीत, रास्ते में फैली अधूरी ख़बरें और लोगों की आशंकाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि समाज में घटनाएँ पहले विचार का रूप लेती हैं और फिर निर्णय बनती हैं। राधाकान्त की दृष्टि कथा को आगे बढ़ाती है और यह दिखाती है कि सूचना कैसे अनुमान में बदलती है तथा अनुमान किस प्रकार भय को जन्म देता है। प्रेम में जुड़े युवक और युवती का प्रसंग व्यक्तिगत न रहकर पूरे गाँव की नैतिक चिंता बन जाता है। इस प्रक्रिया में सत्य धीरे-धीरे पीछे छूट जाता है और संवेदना का स्थान उत्तेजना ले लेती है।

कथा का केंद्रीय बिंदु उस हिंसा में उभरता है, जहाँ निर्दोष माता-पिता को सामूहिक क्रोध का शिकार बना दिया जाता है। यह घटना दर्शाती है कि सामाजिक मर्यादा की रक्षा का दावा करते हुए समाज स्वयं अमर्यादित हो जाता है। जातिगत एकांत, पारिवारिक असुरक्षा और भीड़ की मानसिकता मिलकर ऐसी स्थिति रचती हैं, जहाँ विवेक निष्क्रिय हो जाता है। “अनहोनी” किसी एक अपराध की कथा तक सीमित नहीं रहती। यह उस सामाजिक व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करती है जहाँ निर्णय विवेकपूर्ण विचार से नहीं, दबाव और भय के प्रभाव में लिए जाते हैं, और उनके दुष्परिणाम पीढ़ियों तक घाव बनकर जीवन में बने रहते हैं।

नियति:

“नियति” कथा व्यक्तिगत थकान और सामाजिक जिज्ञासा के संधि-बिंदु से आगे बढ़ती है। पटना से लौटे विमल का मन अपने अधूरे

कानूनी कार्य और जीवन की लंबी प्रतीक्षा से भरा हुआ है। इसी बीच पत्नी के संकेत से गाँव की एक नई हलचल सामने आती है। बातचीत से स्पष्ट होता है कि बाबूलाल की बेटी रुक्मिणी और जियालाल का बेटा श्याम पढ़ाई के दौरान पुष्कर यात्रा में विवाह कर लौटे हैं। यह घटना अचानक नहीं है, बल्कि बदलती शिक्षा व्यवस्था, युवाओं की स्वतंत्र चेतना और पारंपरिक सामाजिक ढाँचे के बीच उभरते नए व्यवहार का परिणाम है। कथा यह रेखांकित करती है कि परिवर्तन चुपचाप प्रवेश करता है और पहले घर, फिर टोले और अंततः पूरे समाज को प्रभावित करता है।

दूसरे स्तर पर “नियति” सामाजिक प्रतिक्रिया की कथा बन जाती है, जहाँ दहेज, विवाह-पद्धति और पीढ़ियों के बीच सोच का अंतर स्पष्ट रूप से सामने आता है। भगवानपुरवाली भौजी और उचितलाल जैसे पात्र संवाद के माध्यम से यह संकेत देते हैं कि समाज स्थिर नहीं है, बल्कि समय के साथ अपनी दिशा तय करता है। श्याम और रुक्मिणी का निर्णय टकराव की दिशा में नहीं जाता, वह संवाद और आपसी समझ की संभावना खोलता है। कथा इस बोध तक पहुँचती है कि सामाजिक संतुलन विचार, स्वीकार और सहभागिता से निर्मित होता है।

“नियति” उस परिवर्तन का चित्र उपस्थित करती है जहाँ भविष्य की राह पुराने भय से मुक्त होकर समझ और सामूहिक जिम्मेदारी की चेतना से आकार ग्रहण करती है।

इन सभी कथाओं को एक साथ देखने पर स्पष्ट होता है कि ‘विवेक’ यहाँ किसी पाठ के निष्कर्ष के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के बीचोंबीच घटित होने वाली प्रक्रिया के रूप में उपस्थित है। कभी वह परिवार को जोड़ने वाला धैर्य बनता है, कभी भय के भीतर सच को पहचानने की क्षमता, कभी भाषा के सहारे बची हुई पहचान, और कभी उन्माद के विरुद्ध मनुष्य बने रहने का साहस। यही कारण है कि यह संग्रह पाठक से केवल पढ़े जाने की अपेक्षा नहीं करता, वह उससे एक नैतिक साझेदारी की माँग

करता है। प्रत्येक कथा के बाद मन ठहरता है और अपने समय, अपने समाज तथा अपने व्यवहार को नए सिरे से देखने के लिए प्रेरित होता है। यदि इन कहानियों का कोई स्थायी फल है, तो वह यही है कि वे मनुष्य को उसके भीतर के विवेक से साक्षात्कार कराती हैं और जिम्मेदार दृष्टि के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं।

- झौली पासवान

वीरसायर

तिथि : 05 फरवरी 2026

परिवार का योग

☰

अन्य गाँवों की तरह रतनपुर भी मिथिला का ही एक गाँव है। यहाँ इतना ही समझिये कि अन्य गाँवों की तरह रतनपुर भी एक गाँव है। राजा मिथि के मिथिला का रत्न नहीं। इसकी बनावट भी वैसे ही है जैसे कमला नदी की धारा के किनारे बसे गाँवों की होती है, कमला नदी की तरह, जो जीवन और मृत्यु दोनों को अपने साथ बहाती हुई आज जयनगर, झंझारपुर और घनश्यामपुर की ओर बढ़ रही है।

आज जहाँ कमला की नदी बह रही है, वह बहुत दूर पश्चिम से मुड़कर यहाँ पहुँची है। उसी तरह कोसी भी पूरब से घूमती हुई जिस दिशा में बह रही है, वह स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसलिए मोटे तौर पर यह मान लेना उचित है कि मिथिला की धरती कोसी और कमला, इन दोनों नदियों के संयुक्त प्रवाह से बनी है। रतनपुर भी उसी धरती पर बसा हुआ वैसा ही गाँव है, जैसे नोनी साग खाने वाले को नमकीन बुद्धि वाला और पटुआ साग खाने वाले को कफीला कहा जाता है।

दूसरे गाँवों की तरह रतनपुर के लोग भी ताश कम खेलते हैं और ताड़ी, दारू, भांग से पूरी तरह परहेज रखते हैं। यहाँ झूठ भी कम बोला जाता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि झूठ वह नहीं होता जिसे आप झूठ मानते हैं, बल्कि वह होता है जिसे आप सच समझ लेते हैं। ऐसे में पंच कहाँ से लाया जाए। पंच तो वही होता है

जो अपनी पंचवेदना स्वयं समझ सके। इसलिए यहाँ हर व्यक्ति पर कोई आयोग बैठाने की जरूरत नहीं पड़ती।

जहाँ यह साफ दिखता है कि एक मेडिकल विद्यार्थी को कितनी मेहनत के बाद डिग्री मिलती है, वहाँ यह कहना कि छठे ही दिन, यानी छठियार के दिन ही किसी की भाग्य-रेखा में डॉक्टर बनना लिखा होता है, सरासर बेमानी है। अगर जीवन में संघर्ष न हो, तो सफलता का मूल्य नहीं रह जाता। और यदि जीवन गुलामी की जकड़ में फँस जाए, तो चाहे कोई डॉक्टर बन भी जाए तो भी उसका भविष्य दिशाहीन ही बना रह जाता है।

मेहनती लोगों का गाँव होने के कारण रतनपुर आज तक आसपास के गाँवों के बीच ऐसा गाँव बना हुआ है, जिसका सहयोग चारों दिशाओं के गाँववाले लेते हैं। दस कोस के इलाके में रतनपुर ही ऐसा गाँव है जो जीवन की अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जहाँ दूसरे गाँवों में हाई स्कूल नहीं हैं, वहाँ रतनपुर में न केवल हाई स्कूल है, बल्कि उसके साथ मिडिल स्कूल और लोअर प्राइमरी स्कूल भी उपलब्ध हैं। कई गाँवों में कहीं मिडिल स्कूल है, तो कहीं लोग अब तक केवेल लोअर प्राइमरी तक ही सीमित हैं।

इसी तरह, भले रतनपुर में पूर्ण विकसित बाजार न हो, फिर भी बाजार जैसी सुविधा वहाँ उपलब्ध है। यह ऐसा गाँव बन चुका है जहाँ परिवार और समाज के बड़े से बड़े कार्य और वस्तुओं की व्यवस्था आसानी से हो जाती है।

हाई स्कूल की तरह ही गाँव में एक सरकारी अस्पताल भी है। सरकारी अस्पताल में जितने डॉक्टर हैं, उससे अधिक निजी डॉक्टर गाँव में हैं। यानी एक डॉक्टर अस्पताल में है और दो डॉक्टर गाँव में प्रैक्टिस करते हैं। तीनों एम.बी.बी.एस. हैं। यही है रतनपुर का संस्कार। गाँव के दोनों निजी डॉक्टरों के मन में यह बात गहराई से बैठ

चुकी है कि सेवा सबसे बड़ा धर्म है। पेट तो कुत्ते, बिल्ली, अंधे और अदना लोग भी भर लेते हैं, लेकिन सेवा हर किसी के बस की बात नहीं। जितनी अधिक सेवा की जाए, उतना ही अधिक आत्मा को संतोष और स्नेह मिलता है।

जैसे दस कोसी क्षेत्र में रतनपुर को एक जाग्रत गाँव माना जाता है, वैसे ही इसे एक विचारशील गाँव के रूप में भी स्वीकार किया गया है। यह गाँव आज ही नहीं, बल्कि हमेशा से प्रतिभाओं को जन्म देता आया है और आगे भी देता रहेगा। यही मिथिला की, वह धरती है जिसने बारह वर्षों का अकाल झेला, आग की तरह जलती रही, फिर भी अपनी मिट्टी को कभी पत्थर नहीं बनने दिया। यही तो है जन-जन का जनकपुर। जहाँ का राजा कायर नहीं था। उसका एक हाथ जहाँ राजलक्ष्मी पर था, वहीं दूसरा यज्ञकुंड में भी लगा रहता था। इसी कारण वह जन-जन का विश्वासपात्र बना और ‘विदेह’ कहलाया।

जिस धरती पर सीता जैसी कन्या ने जन्म लिया, जिसने महादेव के धनुष को उठाकर मात्र बारह वर्ष की आयु में अपने जीवन का परिचय दे दिया। आगे की पहचान समय के साथ खुलती जाएगी।

रतनपुर ऐसा गाँव है, जिसने अपनी कोख से महान योद्धा और विभूतियों को जन्म दिया है। इन्हीं में एक हैं रतनपुर के कुसुमलाल बाबा। अपने बच्चे तो उन्हें बाबा कहते ही हैं, पर उम्र की समानता होने के बावजूद भी कब से लोग उन्हें बाबा कहने लगे, इसका कोई निश्चित हिसाब नहीं है।

भाई, यह मिथिला है। एक ही भैयारी में कोई 'बौआ' कहलाता है तो कोई 'दादा'। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं। भाई ही कभी 'दादा' बन जाता है, और जब 'दादा' बन गया तो 'बाबा' बनने में भी देर नहीं लगती। इसी क्रम में कुसुमलाल बाबा भी ‘बाबा’ कहे जाने लगे और हम भी उन्हें बाबा ही कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि जैसे

कुछ आवारा लोग एक जैसे कपड़े पहने किसी दस बरस के लड़के को भी 'बाबा' कहने लगते हैं।

समय की दिशा देखते हुए परिवार की परेशानियों से मन उलझने लगा था। कभी लगता था कि ऐसे जीवन से मर जाना ही बेहतर है। कभी मन में आता कि शरीर को आग लगा ली जाए। लेकिन मन में इतना भरोसा बना रहा कि यदि कुसुमलाल बाबा को अपनी व्यथा सुनाया जाए, तो वह कोई न कोई रास्ता अवश्य दिखा देंगे। अंततः मन मान गया और हम कुसुमलाल बाबा के यहाँ विदा हो गये।

गाँव में कुसुमलाल बाबा जैसा कोई दूसरा परिवार नहीं है, जिसमें अट्ठाईस लोग एक साथ रहते हों। परिवार में हर उम्र के लोग हैं, बच्चों से लेकर सत्तर वर्ष तक के। चार पीढ़ियों के बीच कुसुमलाल बाबा खड़े हैं और सभी को जोड़कर रखते हैं।

परिवार के भीतर व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध कैसे बना रहें, यह सबसे बड़ी चुनौती होती है। भाइयों के बँटवारे से परिवार बार-बार खंडित होता रहा है। कहीं तीन भाई अपने-अपने गुण और स्वभाव विकसित कर चुके हैं, कहीं किसी में कोई विशेष गुण नहीं है, और कहीं कुछ है, कुछ नहीं। लेकिन जब परिवार अगली पीढ़ी में प्रवेश करता है, तब उसका परिणाम कैसा होता है, यह सबके सामने स्पष्ट हो जाता है।

मैं घर से क्रोध में विदा हुआ था। जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे मन में विचारों की श्रृंखला उमड़ता गया। यह तो समझी हुई बात है कि जब किसी काम की ओर मन आकर्षित होता है, तभी वह वस्तु भी मन को खींचता है। मन में यह खयाल आया कि जो कुछ हुआ है या हो रहा है, वह सब परिवार का ही मामला है। व्यर्थ में कुसुमलाल बाबा के कान में क्यों डाला जाए।

फिर तुरंत ही यह विचार भी आया कि यदि उन्होंने सामने से

पूछ लिया कि गुलटेन, तुम यहाँ क्यों आए हो, तब तो बोलना ही पड़ेगा। मन का ताप सारे विचारों को दबाए सिर पर चढ़ा हुआ था।

यह बात भी मन में उठी कि अपने परिवार की कोई अनहोनी बात कहना वर्जित है। लेकिन पीड़ा इतनी बढ़ चुकी थी कि लगता था, यदि आग में कूदकर न मरूँ, तो पानी में डूबकर ही जान दे दूँ। यूँ ही कौवों के झुंड में फँस गया हूँ। क्यों न अयोध्या या काशी जाकर रहने लगूँ। न जाने किस माया-जाल में उलझ गया हूँ।

मन उचटता ही रहा और इसी हालत में कुसुमलाल बाबा के यहाँ पहुँच गया। मन ताप से जला हुआ था। मुँह से अपने आप निकल पड़ा-

"बाबा, अब मैं इस गाँव में नहीं रहूँगा। इसलिए आपसे पूछने आया हूँ कि काशी जाना अच्छा रहेगा या अयोध्या।"

कुसुमलाल बाबा टुकुर-टुकुर मेरा मुँह देखते रहे। उन्होंने कुछ नहीं कहा। यद्यपि उन्होंने अब तक मुझे खूब देखा है और पहचाना था, लेकिन जिस स्थिति में मैं फँसा था, उसकी पूरी जानकारी उन्हें नहीं थी। उनकी चुप्पी देखकर मेरे मुँह से अपने आप निकल गया,

"बाबा, यहाँ तो सब कुछ बेइज्जती ही है, अन्न, पानी, लकड़ी तक।"

तब कुसुमलाल बाबा बोले-

"गुलटेन, जो तुमने कहा- वह जीवन की बहुत मार्मिक बात है। लेकिन पहले मन को थोड़ा स्थिर करो, फिर बोलो।"

कुसुमलाल बाबा की बात सुनकर मन कुछ थिर हुआ। जैसे क्रोध उठने पर एक गिलास पानी पी लेने से वह शांत हो जाता है, वैसे ही कुछ हुआ। तभी कुसुमलाल बाबा बोले-

"गुलटेन, अभी मेरे शरीर के श्रम करने का समय है। इसलिए

बैठकर काम करने, यानी मन के काम करने का समय नहीं है। लेकिन तुम्हारी परेशानी देखकर मैं सब काम अपनी जगह रोक देता हूँ।”

जैसे कोरोना के उफान के समय गाड़ियाँ जहाँ की तहाँ रुक गई थीं, वैसे ही मन के सारे विचार भी वहीं थम गए। हालांकि मन की लहरों में घुला ज़हर अब भी बिच्छू के डंक जैसा चुभ रहा था। कुसुमलाल बाबा से यह उम्मीद थी कि वे किसी नए रास्ते का विचार देंगे, लेकिन वैसा हुआ नहीं। उलटे उन्होंने पूछा-

“गुलटेन, इतनी अस्थिरता में सवाल क्यों उठा रहे हो।”

मैंने कहा-

“बाबा, आप भले ही समान उम्र के हों, लेकिन आप वैसे ठकहर बाबा नहीं हैं, जो दस-बारह साल के लड़के को एक ही तरह के कपड़े पहना कर सात जन्मों की सुनाकर ठगता है।”

बीच में कुसुमलाल बाबा बोले-

“गुलटेन, इतनी भूमिका बाँधने की क्या जरूरत है। एक समय था जब पोथी से भूमिका भारी होती थी। अब ऐसा समय आ गया है कि जो अभी है, वह शाम तक रहेगा या बदल जाएगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिए अपने भीतर जो तामस का पन्ना पड़ा है, वहीं से विचार उठाओ।”

मैंने कहा-

“बाबा, एक ओर साफ दिखाई देता है कि आपका परिवार कितना सधा हुआ है और दूसरी ओर मेरा परिवार कितना बिखरा हुआ है। दोनों परिवार के बीच आकाश और पाताल का अंतर तो है ही।”

जो बात बाबा के मन में थी, उसे वे स्वयं कहने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए मैं ही बात को घुमा-फिराकर कहता रहा।

कुसुमलाल बाबा बोले- “गुलटेन, कौआ कागभुसुंडी बन जाता

है और कागभुसुंडी भी अंततः कौआ ही होता है। बारह बरस का तमाशा गढ़कर कोई बनावटी बाबा ज्ञान में चाहे जितना आगे बढ़ जाए, लेकिन जीवन के व्यवहारिक पक्ष को वह कभी नहीं समझ पाता।"

दरअसल कुसुमलाल बाबा की बात पूरी तरह समझ में नहीं आई। लेकिन बिना समाधान के परिवार समस्या में ही डूबा रहेगा। मैंने कहा-

"बाबा, परिवार के लोगों का जो क्रिया-कलाप बन गया है, उससे मन रो रहा है। कोई उपाय बता दीजिए।"

अपने परिवार का मुआयना करते हुए और मेरे परिवार को भी टटोलते हुए कुसुमलाल बाबा ने पूछा-

"तुम्हारा परिवार बड़ा है या मेरा।"

सच बात क्यों न कही जाए। मैंने कहा- "आपके परिवार के चौथाई से भी छोटा है मेरा परिवार।"

कुसुमलाल बाबा बोले-

"हर व्यक्ति का अपना जीवन होता है। जीवन में समय-समय पर ऐसी नई समस्याएँ आती रहती हैं, जिनमें नए आकार लेने की शक्ति होती है। इसलिए हर व्यक्ति से अलग-अलग संबंध स्थापित करते हुए चलना पड़ता है।" ❑

मनुष्य खौक

☰

दो वर्ष पहले तक मन में रत्ती भर भी यह विचार नहीं उठा था कि इतने सुंदर जीवन की मृत्यु हो सकती है। यानी मरने का खयाल मन में कभी आया ही नहीं था। औरों को जो होता हो, लेकिन मेरे मन में तो दो बरस पहले तक यह बात उठी ही नहीं थी। जब से घर के बगल से पक्की सड़क बनी, तब से यह विचार मन में जागने लगा। वह भी अचानक नहीं, बल्कि इस तरह कि भोर के चार बजे से, बल्कि उससे भी पहले, पौने तीन बजे ही, बूढ़ों से लेकर जवानों तक को सड़क पर दौड़ते हुए देखने लगा।

शुरुआत में यही समझ में आया कि जब पक्की सड़क बन गई है, तो अब दिन-रात यातायात तो होगा ही। कच्ची सड़क में कटाव होता है, कीचड़ और पानी भरा रहता है, जिससे चलने में अनेक दिक्कतें आती हैं। लेकिन पक्की सड़क पर ये सारी बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं। शंका ही क्यों कहें, यह तो सच्चाई है।

कुछ ही दिनों बाद मन में बैठी वह शंका भी दूर हो गई। सोच बदलने लगी। पक्की सड़क इतनी मजबूत होती है और कीचड़-पानी से इतनी ऊँचाई पर बनी रहती है कि गंदगी उसे पकड़ ही नहीं पाती। लेकिन लोगों के लगातार दौड़ने से मन में एक नई शंका उठ खड़ी हुई। वह भी यूँ ही नहीं, बल्कि सोच-समझकर और जान-बूझकर।

घुड़दौड़ करते हुए एक बूढ़े से मैंने कहा- "चार बजे भोर में दौड़ते हैं। रास्ते में कहीं ठोकर लग जाए और गिर पड़ें, तब क्या होगा?"

वह बूढ़ा कोई और नहीं था। पास के परिचित गाँव का ही था, मेरे दोस्त का पिता, जीवकान्त। जीवकान्त काका बोले-

"बेटा, घुड़दौड़ दौड़ने की उम्र अब अपनी नहीं रही। जब उम्र थी, तब दस कोस के लोग जानते थे। अब तो जीवन के लिए योग कर रहे हैं।"

जीवकान्त काका की यह बात मन में उसी तरह बैठ गई, जैसे पुजारी के मन में फूल चुनने से लेकर पूजा समाप्त होने तक पूजा ही बसी रहती है। मन मान गया कि जब तक योग नहीं करेंगे, तब तक साल भर जीना कठिन है। हम देखते ही हैं कि सर्दियों में कैसी शीतलहर चलती है, जो समय को अंधकार में डुबो देती है और शरीर में अनेक बीमारियाँ भर देती है। उसी तरह गर्मी के मौसम में एक ओर तालाब और कुएँ सूख जाते हैं और दूसरी ओर प्यास से कंठ सूखकर हिरण की तरह तड़पने लगता है। बरसात का हाल भी इससे अलग नहीं है।

जब से इंदिरा आवास बनने लगे हैं, तब से न तो बिजली गिरने का कोई निश्चित हिसाब रहा है, न ही कोई नाप-जोख। उससे पहले, जब हम टूटे-फूटे घरों में रहते थे, तब बिजली गिरने की इतनी चिंता नहीं होती थी, क्योंकि हम पानी की बूंदों तक को रोक नहीं पाते थे। उस समय ठनके से मरने वालों का हिसाब रखने की फुरसत ही किसी को नहीं होती थी।

दो वर्ष से अब मैं भी भोर के चार बजे घुड़दौड़ लगाने लगा हूँ। सच कहूँ तो इस दौड़ से शरीर का दर्द कम होने के बजाय बढ़ ही गया है। ऊपर से अपने जो नियमित काम हैं, जैसे हँसुआ, कुदाल और खुरपी, वे भी चलते ही रहते हैं। इसलिए अक्सर लगता है कि योग की

क्रिया कुछ अधिक ही हो जाती है।

यही है मिथिलांचल का जीवन, जहाँ बाल-विधवाओं के लिए जो भी साधन उपलब्ध था, उसी में समाज ने उन्हें रूई-सूत से जनेऊ बनाने का अधिकार दिया था। अब यह पूछना कि जनेऊ की क्या आवश्यकता थी, तो विचार को घुड़दौड़ न कराकर सच्चाई की सीमा पर खड़े होकर देखना चाहिए कि यहाँ जनेऊ धारण करने की परंपरा कब से चली आ रही है। यह एक छोटा-सा काम-रोजगार तो था ही, जिसे करने से विधवाओं को भी रोका नहीं गया था। साथ ही वैष्णव संप्रदाय के प्रभाव से जनेऊ की परंपरा और गहरी हो गई। कंठी-माला के साथ जनेऊ का धागा भी जुड़ गया।

खैर, वह सब अब बीते समय की बात है। अब तो बस इतना ही कि उस दौर में स्वतंत्र जीवन जीने की एक दिशा अवश्य थी। ऊपर से शासन का छत्र अलग बात थी, लेकिन जो भी स्थिति थी, उसमें स्वतंत्र जीवन का कोई न कोई रास्ता फिर भी मौजूद था।

उस दिन भी मैं चार बजे से पहले ही सड़क पर दौड़ने निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर पहुँचा था कि घुरनी दादी की आवाज आँगन से कानों में पड़ी। मन हुआ कि उनसे पूछ ही लूँ कि यह कैसी जली हुई बात है, जो वे 'मनुक्ख खौक' कह रही थीं। इससे पहले उन्होंने क्या कहा था, वह मैं सुन नहीं पाया था। तभी अपने काम का खयाल मन में आकर रुक गया। यह सोचकर आगे बढ़ गया कि अभी योग-क्रिया के तहत दौड़ना है, फिर व्यर्थ अपनी दिनचर्या क्यों बिगाड़ूँ।

मैं रुका नहीं और दौड़ते हुए आगे बढ़ता गया। लेकिन जैसे हथबौगली में आँख बंद कर माला फेरते समय मन संसार में भटकने लगता है, वैसा ही मेरे साथ हुआ। क्रिया तो दौड़ने की थी, लेकिन मन घुरनी दादी के 'मनुक्ख खौक' शब्द पर अटक गया था। भीतर बहुत कुछ चल रहा था, फिर भी मैंने दौड़ना नहीं छोड़ा। यह सोचकर भी

मन को रोका कि व्यर्थ इस उलझन में क्यों पड़ूँ कि पतंजलि की योग-क्रिया को मैथिल मानें या न मानें।

जब अपनी सीमा तक पहुँचकर लौटा, तो कदम अपने आप छोटे होने लगे और मन को सोचने का अवसर मिल गया। उसी क्षण विवेक-शक्ति मानो झटका देकर जाग उठी। घुरनी दादी का घर थोड़ा ही पीछे था और मन निर्णय के मोड़ पर पहुँच चुका था। तय हुआ कि घर से लौटकर फिर आना ठीक नहीं होगा। अच्छा-बुरा जो भी हो, कुछ समय का नुकसान तो होगा ही। इसलिए अभी ही, लौटते समय ही, घुरनी दादी से पूछ लेना चाहिए।

संयोग से घुरनी दादी दलान के आगे खड़ी थीं। मैंने पूछा- "दादी, दौड़ते समय सुना था, मनुक्ख खौक। यह मनुक्ख खौक क्या होता है?"

जैसे मन की गहरी बात जब किसी दूसरे के मुँह से सुन ली जाती है, तो भीतर एक तृप्ति-सी हो जाती है, वैसा ही घुरनी दादी के साथ हुआ। अस्सी वर्ष से अधिक उम्र की घुरनी दादी के मुँह में एक भी दाँत नहीं था, फिर भी वे चावल और मड़ुआ की रोटी, मोटे अनाज से लेकर महीन अनाज तक, और काले पानी में डूबी सुपारी के टुकड़े तक खा लेती थीं। मेरी बात सुनते ही दादी हँसने लगीं। खुलकर, भरकर हँसीं।

घुरनी दादी का हँसना इतना अनहोना लग रहा था कि मन को काट-काटकर खा रहा था। फिर भी कुछ कहने में स्वयं को विवश पा रहा था। विवश इसलिए कि यदि अपनी ओर से कुछ आगे बढ़कर बोल देता, तो वैसा ही हो जाता, जैसे कोई पदाधिकारी कहीं झगड़े की फड़िछौट में जाकर अपनी जूती लगाकर दूसरा झगड़ा खड़ा कर दे और लौट आए। इसलिए मुँह बंद रखना ही ठीक समझा। मैं चुप ही रहा।

लेकिन दादी के मन में जैसे बोलने की सनक उठ आई हो।

उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहना शुरू किया- “बेटा, अभी तुम लोग बाल-बोध हो, इसलिए दुनिया के छक्के-पंजे नहीं समझते। लेकिन हम अस्सी बरस से दुनिया के खेल-तमाशे देखते आ रहे हैं।”

मन हुआ कि एकतरफा अदालत की बहस की तरह दादी को बोलने देता रहूँ। लेकिन दूसरा मन यह भी कह रहा था कि जब गणेशजी जैसे एकदंत को भी व्यासजी जैसे विचारक ने यह समझाया था कि बिना समझे आगे कलम नहीं चलानी चाहिए, तो फिर हम तो साधारण मनुष्य ही हैं।

मुँह से अपने आप निकल पड़ा- “दादी, हम सब मनुष्य हैं, इसलिए मनुष्य की सीमा में ही बातचीत करेंगे।”

मेरी बात सुनकर और अपने मन की उपज पाकर घुरनी दादी बिना दाँत के मुँह से खिलखिलाते हुए हँस पड़ीं और बोलीं-

“बेटा, मनुष्य कौन है और देवता कौन है, सबकी गति एक ही है।”

दादी की बात सुनकर मन में अचरज होने लगा कि वे आखिर कहना क्या चाह रही हैं। फिर मन में यह विचार भी आया कि दादी कोई साधारण स्त्री नहीं हैं। वे अस्सी वर्ष से ऊपर की हैं, संभव है कि अपने जीवन के अनुभवों से ही बोल रही हों। ऐसे में यदि मैं कुछ कहूँ, तो वह उचित नहीं होगा। फिर भी हम ने यह तय किया कि आगे बढ़कर कुछ न कहा जाए, लेकिन बात को समझना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया और कल को कोई बात उठी, तो दोष मुझ पर ही आएगा।

मैंने पूछा- “यह कैसे, दादी?”

मेरी बात में घुरनी दादी को क्या रस मिला, यह तो वही जानें, लेकिन वे खिलखिलाकर हँसते हुए बोलीं- “बेटा, केवल मनुष्य ही 'मनुष्य खौक' नहीं होता, देवियाँ और देवता भी होते हैं।”

दादी की बात सुनकर मन में थोड़ी घबराहट भी हुई कि कहीं देवी-देवताओं के दोष सुनने को न मिल जाएँ। और यह भी कि न जाने वे भीतर ही भीतर कुछ कर न बैठें। साथ ही यह विचार भी मन में बना रहा कि बिना समझे रह जाना अज्ञानता ही है।

दिन और रात के बीच रात आ गई, और मृत और अमृत के बीच मृत्यु आ खड़ी हुई। तरह-तरह के विचार मन में उठने लगे, जिससे मन पूरी तरह डगमग हो गया। यदि मन शांत होता, तो विचार भी स्पष्ट होते, लेकिन इस समय विवेक जैसे खिंच कर बँध गया था।

मुँह से निकल ही गया,

“दादी, आप अपनी बात थोड़ा साफ करके कहिए।”

घुरनी दादी बोलीं-

“बेटा, सुबह-सुबह घर के लोगों से कह रही थी कि एक दिन आदमी खूँटे से बैल खोलकर ट्रैक्टर जुतवाने चला जाता है, और दूसरे ही दिन गया में पिंडदान कराने की दौड़ में लग जाता है। यही दूरी मनुष्य और देवी-देवताओं दोनों को खा जाती है।”

दादी की बात की लहर मिलते ही मैं बोल पड़ा-

“हाँ, यह तो आँखों से देखते ही हैं।”

मेरी बात का अंत समझते हुए और अपने विचार की अंतिम कड़ी जोड़ते हुए घुरनी दादी बोलीं-

“जिस तरह मनुष्य 'खौक' मनुष्य होता है, उसी तरह देवी-देवता भी धन और मन के 'खौक' होते हैं।” ❑

साहित्यकार का विवेक

☰

परसों के कार्यक्रम में, यानी साहित्यिक संगोष्ठी में, सभी लोग समय से पहले ही पहुँच गए थे। इससे कार्यक्रम शुरू होने से पहले ही उसकी रौनक चमक उठी थी। तरह-तरह के साहित्यकार आ चुके थे। उसी बीच भ्रमरजी, कमलजी के पास बैठकर सरोवरजी से कह बैठे,

"रतिचरजी की चमक तो देखिए।"

इसी दौरान दिग्दर्शन भाई और हरहू भाई भी पहुँच गए। आगे बैठने की जगह भर चुकी थी, इसलिए हरहू भाई दूसरी कतार में दिग्दर्शन भाई के साथ बैठ गए। दोनों को एक साथ बैठा देख मैं भी सरककर वहीं जा बैठा। हरहू भाई टूटे मन से दिग्दर्शन भाई से बोले-

"भाई, यह हमारी अंतिम भेंट है। इसके बाद मेरी उपस्थिति नहीं रहेगी।"

हरहू भाई की बात सुनकर दिग्दर्शन भाई पर क्या बीती, यह तो वही जानें, लेकिन मेरे भीतर एक झनक-सी लगी, जिससे मन काँप उठा। उस काँपते मन में यह विचार उभरा कि जैसे किसी प्रिय के घटने से जीवन-धर्म की एक डाली टूट जाती है, वैसे ही किसी के बढ़ने से कोई नई डाली पनप भी उठती है।

मैं अपने ही विचारों की गहराई में डूबा था कि तभी दिग्दर्शन भाई ने हरहू भाई से कहा- "अंतिम भेंट क्यों। हमारी भेंट तो यहीं नहीं,

स्वर्ग और नरक में भी होती रहेगी।"

दिग्दर्शन भाई ने यह बात जीवन की मचिया पर झूले जैसी आशा लगाकर कही थी, लेकिन हरहू भाई का टूटा हुआ मन फिर भी हड़बड़ाता रहा। उनके चेहरे की उदासी के साथ होंठों की फफरी भी साफ दिखाई दे रही थी, जो दिग्दर्शन भाई की नजर से बच नहीं सकी। साफ था कि हरहू भाई के मन का दर्द दिग्दर्शन भाई के दर्द से तनिक भी कम नहीं था।

हरहू भाई का सिकुड़ा मुँह देख दिग्दर्शन भाई के मन में भी दुख उठा, लेकिन दुख की भी अपनी एक सीमा होती है। पाँव में काँटा या पत्थर चुभ जाना, या ब्लेड से उँगली बस छिल जाना भी दुख देता है, पर ऐसे दुख को लोग बड़ा दुख नहीं मानते। लेकिन जब दुख गहरा होता है, तो वह मन को केवल विचलित ही नहीं करता, उसे पागल भी बना देता है।

हरहू भाई बोले- "भाई, मैं दोहरी मार में फँस गया हूँ। इसलिए मन करता है कि घर छोड़कर जंगल चला जाऊँ, या चुल्लू भर पानी में अपनी जान ही दे दूँ।"

हरहू भाई क्या कहना चाह रहे थे, यह दिग्दर्शन भाई को समझ में आया हो या नहीं, लेकिन मुझे तो यह भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा था कि हरहू भाई सचमुच कुछ कह रहे हैं या यूँ ही बेतरतीब बक रहे हैं। मैंने पूछा- "भाई, इस तरह गला खींचकर क्यों बोल रहे हो। मुँह खोलकर साफ-साफ कहो।"

मेरी बात सुनकर या अपने मन की उपज से हरहू भाई बोले-

"मैं दोहरी मार में फँस गया हूँ। एक तरफ पत्नी कहती है कि उसका कोई मनोरथ ऐसे पुरुष से पूरा नहीं हुआ, और दूसरी तरफ साहित्य-जगत के लोग कहते रहते हैं कि हरहू महादेव के गण हैं। शरीर तो जैसे-तैसे है, लेकिन गर्दन के ऊपर मुँह ही नहीं है।"

दिग्दर्शन भाई चुप ही रहे। उनके मन में शायद यह बात घूम गई थी कि हरहू भाई अपनी रचनाओं में जिन बातों को कहते हैं, अब उन्हीं बातों को अपने जीवन में जी रहे हैं। फिर भी मन क्यों टूट गया है और उदासी क्यों छा गई है, इस प्रश्न में वे अपने ही विचारों के जंगल में खो गए।

हरहू भाई की बिखरी हुई भाषा देखकर मुझसे भी रहा नहीं गया। मैंने कहा-

“भाई, मन इस तरह क्यों डगमगा रहा है। उसे थामो और एक-एक कर साफ-साफ बोलो।”

मेरी बात सुनकर हरहू भाई का मन और घबरा गया। घबराहट यह थी कि पहले कौन-सी बात कहें और बाद में कौन-सी। उनका मन अजीब जंगल में फँसी गाय की तरह भटकने लगा। यह भटकाव इसलिए था कि जब घर और बाहर, दोनों ओर से आदमी घिर जाए, तो पहले किसे कहे और बाद में किसे। रास्ता तभी सीधा होता है जब परिवार सँभला हुआ हो। परिवार सँभलता है, तभी बाहर के आक्रमण से आँख मिलाकर टकराया जा सकता है। लेकिन यहाँ ऐसा नहीं था।

दिग्दर्शन भाई को चुप देख हरहू भाई बोले-

“जग्गू, आप को हम पराया नहीं समझते हैं, इसलिए बोलने में कोई झिझक नहीं है।”

हरहू भाई को इतनी लंबी भूमिका बाँधते देख मैंने कहा-

“भाई, इतनी तो सुध-बुध है कि कार्यक्रम शुरू होने में अब सिर्फ दस मिनट बचे हैं। इसी बीच अपनी बात पूरी कर लो।”

मेरी बात सुनकर जैसे हरहू भाई चौंके, वैसे ही दिग्दर्शन भाई भी चौंक गए। चौंकते हुए दिग्दर्शन भाई ने हरहू भाई से कहा-

“हरहू बाबू, प्रश्न दो खंडों का है। समय नहीं बचा तो आगे समझ

लेंगे। लेकिन जो समय बचा है, उसमें कम से कम एक खंड का प्रश्न तो उठा दो, ताकि सोचने का कोई सूत्र हाथ लग जाए।"

परिवार के विचार को थामते हुए हरहू भाई बोले-

"दिग्दर्शन भाई! क्या कहूँ। आपसे कोई बात छिपी नहीं है।"

हरहू भाई की बात सुनकर मैं बीच में बोल पड़ा-

"जो बात सामने कही जाती है, वह छिपी नहीं रहती। और जो अब तक सामने नहीं आई, वह छिपी ही मानी जाएगी। समय पर नजर ही नहीं रहती कि कम समय में ज्यादा काम करना है।"

भूखा पेट हो या थका हुआ शरीर, गप की आँच लगते ही आदमी में जोश आ जाता है। हरहू भाई के साथ भी वही हुआ। बोले-

"जग्गू भाई, पिछली बार तो सारी बातें कह ही दी थीं। इधर पूरे एक महीने की खाली छुट गई। वैसे मुलाकात भी पूरे महीने पहले ही हुई थी।"

पीछे ध्यान लगाकर देखा तो समझ में आया कि सचमुच हरहू भाई से मिले हुए एक महीने से भी अधिक हो गया था। मैंने कहा-

"एक महीने के भीतर ऐसी कौन-सी घटना घट गई कि इतनी चिंता में डूब गए हो, भाई?"

हरहू भाई बोले- "बीस बरस से भी अधिक समय से इसी वृत्ति में सेवा दे रहा हूँ, यानी साहित्य-सृजन कर रहा हूँ। न पत्नी इसे समझ पा रही है और न ही इन बीस वर्षों में बने साहित्यकारों के रिश्ते।"

दिग्दर्शन भाई बोले- "यह कैसे?"

दिल खोलकर हरहू भाई बोले-

"दिग्दर्शन भाई, क्या कहूँ। रोपना चाहता हूँ सुकुमार बेल, चमेली के फूलों का पौधा, लेकिन काँटेदार गुलाब आकर उसे ऐसे दबा देता है कि क्या कहूँ। आप ही बताइए, जीवन कैसे बचेगा?"

बोलते-बोलते हरहू भाई ने अपने मन की लगभग सारी बातें उँडेल दीं, लेकिन दिग्दर्शन भाई उन्हें पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाए। गाँव-घर में जैसे दरोगा या पुलिस को देखते ही बाल-बोध बच्चे को भीतर-ही-भीतर पेशाब लग जाती है, वैसा ही हाल हरहू भाई का हो गया। निर्भय कहें या निडर, भयभीत कहें या डरपोक, उनका शरीर थरथरा उठा। जब निर्भय मन भयभीत होता है, तभी वाणी काँपने लगती है। उसी तरह उनके विचार भी भीतर की ओर सिमटने लगे।

विचार सिमटते ही भावनाओं का पासा ऐसे पलटने लगा, जैसे महाभारत में कौरव और पांडवों के बीच जुए का पासा चित और पट होता है। ठीक वैसा ही हरहू भाई के भीतर घटित हुआ। अनायास उनके मुँह से निकल पड़ा-

“जग्गू भाई, क्या कहूँ। आखिर तुलसी बाबा ने भी तो पत्नी छोड़कर आड़वन और कौपीन धारण कर लिया था।”

मैंने कहा-

“ऐसा क्यों बोल रहे हो, भाई साहब?”

हरहू भाई बोले-

“भाई, क्या कहूँ। कहीं से थका-हारा जब घर लौटता हूँ, तो पत्नी इस तरह झपट पड़ती है कि एक दिन भी घर में रहने का मन नहीं करता।”

हरहू भाई की हालत देखकर मेरा मन भी डूबने लगा। मैंने पूछा-

“कब से ऐसा हो रहा है, भाई?”

हरहू भाई बोले-

“पिछली बार अनंतपुर में जो मुलाकात हुई थी, उसके बाद से ही यह सब चल रहा है।”

मैंने उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए कहा- “यहाँ से जाने के बाद जब घर

लौटो, तो भाभी को सब बातें समझा देना। वे बदल जाएँगी।"

मेरी बात सुनकर जैसे हरहू भाई को कुछ राहत मिली। बोले-

"इतनी उलझन क्यों है, जग्गू भाई?"

मैंने कहा-

"मोबाइल की वजह से उलझन होगी। आप तो खुद मोबाइल रखते नहीं, फिर पत्नी को कैसे देंगे?"

मेरी बात ने जैसे हरहू भाई को घर की स्थिति याद दिला दी। बोले-

"अब इसका उपाय क्या होगा?"

मैंने कहा-

"नया नहीं तो कोई पुराना फाइव-जी मोबाइल घर में पड़ा ही होगा। मैंने तो अब सेवन-जी रखना शुरू कर दिया है, वही दे देना।"

अपनी समस्या का कोई रास्ता निकलता देख हरहू भाई बोले-

"दिग भाई, दिन भर नज़र दौड़ाकर भाव और कुभाव समेटता रहता हूँ और सबके सामने रख देता हूँ। लेकिन जब उन्हीं भावनाओं को व्यक्त करता हूँ, तो कोई कह देता है कि भावना व्यक्त करने की समझ ही नहीं है, और कोई कहता है कि यह भी कोई भाषा होती है।"

दिग्दर्शन भाई बोले-

"हम दोनों की बात सुन लो, हरहू बाबू। हर मनुष्य की अपनी भाषा होती है। उसी भाषा से उसके जीवन की गति चलती है। इसलिए यह अथाह प्रश्न है, इससे व्यर्थ क्यों घबराते हो।" ❑

भाषा की पीड़ा

☰

गाँव-गाँव में यह चर्चा आम हो गई है कि लोग लगातार गाँव छोड़कर बाहर जा रहे हैं। पर क्यों जा रहे हैं, यह पूछने वाला कोई नहीं है। जब पूछने वाला ही नहीं है, तो जवाब भला कहाँ से मिलेगा?

यह तो सभी जानते हैं कि हमारा एक वेदवाक्य है: वसुधैव कुटुम्बकम्। जब दुनिया के सारे मनुष्य एक ही समाज के अंग हैं, तब वे कहीं भी रहें, कुछ भी खाएँ, मनुष्य द्वारा बनाए गए समाज के ही हिस्से रहते हैं। यह मनुष्य की एक सीमा है।

लेकिन एक दूसरी सीमा भी है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे का खून पीने को तैयार रहता है। इसे महज अफ़वाह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रवृत्ति व्यक्ति से परिवार, समाज और फिर देश-दुनिया तक फैली हुई है।

खैर, जो जैसा है, उससे सियालाल काका का कोई लेना-देना नहीं।

दिल्ली शहर में रामपुर के सियालाल काका और राघोपुर के मुनेसर बाबू अपने बेटे के किराये के मकान के बरामदे में रखी कुर्सियों पर बैठे अपने-अपने गाँव को याद कर रहे थे।

जब तक सियालाल काका ने दिल्ली नहीं देखी थी, तब तक उन्हें यही लगता था कि जैसे हमारे गाँव-घर हैं, वैसे ही दिल्ली भी

होगी; वही बोली-बानी, वही रहन-सहन।

श्रमिक परिवार से आने वाले, निरक्षर सियालाल काका ने अपना जीवन गाँव के माहौल में बिताया था। लेकिन देखा-देखी चेतना जागती ही है।

गाँव रामपुर में ही उन्होंने कई लोगों को देखा, जो अपने बेटों के साथ दिल्ली में रहने लगे थे। साथ ही, गाँव की खेती-किसानी की हालत भी दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही थी, और रामपुर की स्थिति तो और भी खराब हो चुकी थी।

दो साल पहले कमला नदी का बाँध टूट गया था, जिसने गाँव के बीचों-बीच नासूर की तरह फूटकर गाँव को बाढ़ में डुबो दिया। गाँव के लोग किसी तरह जान बचाकर बंबई, बंगलौर, दिल्ली जैसे शहरों में कुटुंब-परिवार सहित जान बचा सके।

दिल्ली पहुँचने के बाद कुछ दिनों तक सियालाल काका खुद को अनजान मानते हुए दिल्ली को देखने-सुनने में लगे रहे। लेकिन कुछ ही समय में उन्हें यह महसूस होने लगा कि जैसे वे किसी अदृश्य घेरे में बंद हो गए हैं।

बेटा और बहू हर सुबह आठ बजे डेरे से काम पर निकल जाते और शाम को लौटते। दिन भर अकेले बैठे सियालाल काका यूँ ही बेचैनी में समय बिताते रहते।

कुछ दिनों बाद एक संयोग हुआ। सियालाल काका डेरा से बाहर निकलकर सड़क पर खड़े थे, तभी उनकी नजर एक व्यक्ति पर पड़ी। उसकी धोती पहनने के ढंग से ही उन्हें समझ में आ गया कि वह भी मैथिल है। वह व्यक्ति थे मुनेसर बाबू, जो हाथ में झोला लिए बाज़ार जा रहे थे।

करीब एक महीने से सियालाल काका जैसे बोलना ही भूल गए थे। मुँह का बँध जाना यानी किसी से बात न करना। जब बेटा-बहू डेरा

में होते, तब मन कुछ हद तक बहल जाता था, लेकिन उनके निकलते ही सारा दिन सन्नाटा छा जाता।

गाँव के किसी अपने जैसे व्यक्ति को देखकर सियालाल काका ने उनसे पूछा-

“भाई, आप मैथिल हैं?”

गाँव चाहे जितना भी उजड़ जाए, उसका नाम इतनी जल्दी नहीं मिटता।

मुनेसर बाबू बोले-

“मिथिला के मधुबनी ज़िले के राघोपुर का रहने वाला हूँ। और आप?”

जैसे किसी सहेजकर रखे वाद्य से अचानक मधुर स्वर फूट पड़े हों, वैसे ही सियालाल काका बोले-

“मेरा डेरा भी यहीं है। कहाँ जा रहे हैं? आइए, कुछ देर बैठकर दोनों भाई मिथिला के सुख-दुख की बातें कर लें।”

मुनेसर बाबू समझ गए थे कि जब अपने गाँव-घर का आदमी मिल जाए, तो थोड़ी देर रुकना चाहिए। लेकिन उसी क्षण उनके भीतर दायित्व-बोध जाग उठा।

वे इस समय परिवार के काम से, दूध और सब्ज़ी लेने निकले थे। ऐसे में कहीं अटककर समय गँवाना उन्हें ठीक नहीं लगा। ऊपर से शहर और बाज़ार की स्थिति भी कभी तय नहीं रहती, न जाने कब भीड़ लग जाए और कब एकदम खाली हो जाए।

उन्होंने सोचा कि जब किसी काम के लिए निकले हैं, तो पहले उसे निपटाना चाहिए। समय की यही माँग है। सड़क चलने की जगह होती है, रुकने से दूसरों को भी परेशानी होती है।

वे बोले- “अभी काम से निकला हूँ। काम ही तो जीवन है और

जीवन ही काम है। जैसा काम, वैसा जीवन और जैसा जीवन, वैसा काम। इसलिए अभी नहीं रुकूँगा। मेरा डेरा यहीं पास में है, पाँचवाँ मकान। लौटते समय वहीं बैठकर अपने देश-कोस की बातें करेंगे।”

जैसे नहाई हुई गाय या भैंस दूध देने के लिए खुद को तैयार कर लेती है, वैसे ही सियालाल काका के मन में भी एक नई उमंग जाग उठी। जैसे प्रेमी-प्रेमिका की पहली भेंट की पहली किरण, शक्ति और अशक्ति के बीच एक तरंग उत्पन्न कर देती है, वैसा ही अनुभव सियालाल काका को होने लगा।

मुस्कराकर बोले- “भाई साहब, चलिए, मैं भी आपके साथ चलता हूँ। रास्ते में बातें भी हो जाएँगी और आपका काम भी नहीं रुकेगा।”

नई चीज़ मिलने से जितनी खुशी होती है, उससे कम उसे खो देने का डर भी नहीं होता। यह तो स्वाभाविक है कि किसी शब्द या सूत्र को यदि कम ध्यान देकर ग्रहण किया जाए, तो वह कब भूल जाए, इसका कोई भरोसा नहीं होता।

पास ही सब्ज़ी और दूध का हाट था। मुनेसर बाबू के मन में कुछ ठहराव आया। उन्होंने सोचा, हम हमेशा गाँव में ही रहे हैं। लेकिन केवल नाम से कोई गाँव नहीं होता। गाँव, वास्तव में, अथाह समुद्र से भी अधिक गहरा होता है।

गाँव का जीवन एकरस अवश्य होता है, पर उसमें एक गहराई होती है। एक ही प्रकार का खान-पान, खेत-खलिहान, पोखर, कुएँ और घर-आँगन के बीच डॉक्टर, इंजीनियर, वकील और प्रोफेसर जैसे लोग भी गाँव में ही रहते हैं। यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि जीवन-शैली के कारण गाँव में रहने वाले लोग अब गाँव जैसे नहीं रह गए हैं।

मुनेसर बाबू के मन में दो तरह के विचार स्थिर हो गए। पहला यह कि शहर और बाज़ार, जहाँ सभ्यता के सबसे सुगढ़ रूप बनते हैं,

वहीं यह भीड़ लुच्चे-लफंगे लोगों से भरी होती है। कौन कब किसका जीवन छीन ले, कहा नहीं जा सकता।

दूसरा विचार यह था कि दुनिया के किसी भी कोने का मनुष्य हो, वह मनुष्य ही होता है। सब एक ही तत्व से बने हैं, इसलिए उनके मूल गुण भी समान होते हैं। हालांकि यह भी सत्य है कि दुनिया के सात अरब लोगों में आपसी कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होती है।

इन विचारों को अपने मन के कोने में सहेजते हुए मुनेसर बाबू बोले- “सियालाल, आप किनारे खड़े रहिए, मैं पंक्ति में लग जाता हूँ।”

दूध और सब्ज़ी खरीदकर, मुनेसर बाबू सियालाल काका से बात करते हुए साथ-साथ अपने डेरा पर लौटे। ओसारे में रखी कुर्सी पर सियालाल काका को बैठाकर, उन्होंने रसोई में दूध और सब्ज़ी रखे, फिर वापस आकर उनके पास बैठ गए।

मुनेसर बाबू के बेटे-बहू भी अभी तक काम से नहीं लौटे थे। वैसे, मुनेसर बाबू परिवार में रहते हुए भी, अपने जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, दिन के चौबीसों घंटे की दिशा को अपने नियंत्रण में रखते हैं।

सियालाल काका के पास वाली कुर्सी पर बैठकर मुनेसर बाबू बोले- "पहले चाय पीएँगे या पानी? आप नियमित रहते हैं, तो क्या चाय-नाश्ता कर के चले हैं?"

मुनेसर बाबू की बात सियालाल काका आधी-अधूरी ही समझ पाए। इसका कारण यह था कि गाँव-घर के अपनत्व से उनका मन इतना भर आया था कि विचारों का कोई ठिकाना नहीं रहा।

सियालाल काका बोले- "भाई साहब, आपको देखकर मुझे गाँव की वह बात याद आ गई, जो हमारे विद्यालय में नेंगड़ा गुरुजी कहा करते थे। वही बात, जिसने गाँव में पढ़ने-लिखने की चाह रखने

वाले लोगों को आगे बढ़ाया था।"

सियालाल की यह बात सुनकर मुनेसर बाबू की दिल दहल गया। वे बोले-

"सियालाल, ज़िंदगी भर गाँव में ही रहा। वहीं जन्म लिया, पढ़ा और गाँव के ही स्कूल में नौकरी की। तीन साल पहले सेवानिवृत्त हुआ हूँ।"

सियालाल काका ने पूछा-

"कितने दिन से यहाँ हैं?"

'कितने दिन' सुनते ही मुनेसर बाबू का मन इस तरह काँप उठा जिस तरह भूकम्प के समय धरती डोलता है। बोले-

"मन तो यही था कि जिस धरती पर जन्म लिया, उसी पर सेवा करते-करते उसी में विलीन हो जाऊँ। लेकिन..."

सियालाल काका भले ही बुद्धि-विवेक में मुनेसर बाबू के बराबर न हों, पर जीवन की गहराई उन्हें भी कम नहीं थी। विचारों के प्रवाह में बहते हुए उन्होंने पूछा-

"यह क्या कहा आपने, भाई साहब?"

मुनेसर बाबू दिल खोलकर बोले-

"सियालाल, मेरा केवल एक ही बेटा है। भैयारी में मैं अकेला हूँ। सेवानिवृत्ति से दो साल पहले पत्नी का देहांत हो गया। फिर भी सेवा-धर्म निभाते हुए, खाने-पीने की सारी व्यवस्था खुद करता रहा। बेटा-बहू बाहर रहने लगे। अब तक यही सोच थी कि अपना जीवन अपने ही सहारे निभा लूँगा। लेकिन एक समय ऐसा भी आया जब महसूस हुआ कि जैसे बचपन में सहारे की ज़रूरत होती है, वैसे ही बुढ़ापे में भी होती है। इसी कारण मैं यहाँ आ गया।"

मुनेसर बाबू की बातों पर सियालाल काका की नज़र उतनी नहीं

गई, जितनी अपनी भाषा पर गई। भाषा की ओर ध्यान जाते ही उनका मन खुशी से भर गया। वे बोले-

"हमारी भाषा जैसी मीठी भाषा दुनिया में कहीं नहीं है।"

मुनेसर बाबू के मन में यह बात जरूर ठहर गई कि सियालाल ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी ही भाषा की जड़ और पहचान नहीं जानते और दुनिया की भाषाओं पर राय दे बैठते हैं। फिर भी, उन्होंने ऐसा उत्तर देना उचित नहीं समझा जिससे सियालाल का मन आहत हो। उन्होंने संयमित स्वर में कहा-

"सियालाल, जैसे हर किसी को अपनी भाषा मीठी लगती है, वैसे ही हमें भी अपनी भाषा मीठी लगती है।"

मुनेसर बाबू की यह बात सुनकर सियालाल काका हँसते हुए उठे और विदा लेते हुए बोले-

"अभी चलता हूँ, कल फिर आऊँगा।"

अचानक मुनेसर बाबू के मन में विचार आया कि क्यों न सियालाल को भाषा का इतिहास सुनाया जाए, ताकि उन्हें यह समझ में आ सके कि मनुष्य और भाषा का संबंध कैसा होता है, भाषा कैसे जन्म लेती है, कैसे पनपती और फैलती है, और फिर कैसे धीरे-धीरे समाप्त भी हो जाती है। ❑

समझ ही नहीं पाए

☰

हो-हंगामे के बीच हम सीधे जेल पहुँचा दिए गए। सच तो यह है कि इससे पहले कभी मन में यह विचार तक नहीं आया था कि हमारा भी जेल से कोई संबंध हो सकता है। अब तक हम यही मानते रहे थे कि केवल वही लोग जेल जाते हैं जो चोरी करते हैं, डाका डालते हैं या जेब काटते हैं। बस इतना कर लिया जाए कि इन कामों से दूर रहें, तो जेल का रास्ता अपने-आप बंद रहेगा।

लेकिन ऐसा नहीं हो सका। हम हो-हल्ले में फँस गए और जेल पहुँच गए। यह बताना ज़रूरी है कि वह हो-हल्ला आखिर था क्या।

सब जानते हैं कि हमारी भी अपनी एक भाषा है और अपना साहित्य भी। लेकिन अब तक जो भाषा और साहित्य था, वह एक तरह से बँधा हुआ ही रहा। बँधा हुआ इस अर्थ में कि वह जनमानस के बीच कुछ सीमित दायरों तक ही सिमटा रहा। उसी बंधन को तोड़ने के लिए, बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की भावना के साथ, भाषा और साहित्य प्रेमियों ने एक आंदोलन खड़ा किया।

हम कोई बहुत समझदार तो नहीं हैं, लेकिन समाज से जुड़े रहना हमारी आदत रही है। इसलिए समाज के काम को अपना समझकर उस आंदोलन में शामिल हो गए।

आंदोलन का एक बड़ा जुलूस सड़क पर उतरा। गाँव के

ब्रह्मस्थान को जुलूस के एकत्र होने की जगह बनाया गया। गाँव का ब्रह्मस्थान वह स्थान होता है जो हर गाँव का सांस्कृतिक और धार्मिक केंद्र होता है।

जब हम घर से अकेले निकले, तो मन में रविंद्रनाथ टैगोर की गीतांजलि की वह पंक्ति "एकला चलो रे" और कबीरदास का दोहा "कबीर फिरा बाज़ार में" अपने आप गूँजने लगा। और गूँजे भी क्यों न, आखिर हम एक रणभूमि की ओर ही तो बढ़ रहे थे।

ऐसे में यदि कलेजा कसकर न रखा जाए, तो आगे बढ़ना मुश्किल होता है। जैसे दुख से सुख का जन्म होता है और मृतात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है, वैसे ही सत्ता से बाहर रहने वालों से ही सत्ता में आने वालों का जन्म होता है।

इसी विश्वास के साथ, सत्ता में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए हमने जेल और पुलिस का डर छोड़कर जुलूस में भाग लिया।

गाँव से चला जुलूस थाने तक पहुँच गया। थाना देखते ही कई लोगों को प्यास लगने लगी, गला सूखने लगा। कुछ लोग पानी पीने के बहाने खिसक गए। कुछ को अचानक शौच का दबाव महसूस हुआ और वे भी रास्ते से हट गए। कुछ लोग थाने की सख्ती और वहाँ की तड़क-भड़क देखकर ही पीछे हट गए। धीरे-धीरे बचते-बचाते अपने गाँव के लोग लगभग छँटते चले गए। हालाँकि दूसरे गाँवों के आंदोलनकारी अब भी डटे रहे, लेकिन हमारे गाँव के लोग अंत में लगभग गायब हो चुके थे और हम अकेले रह गए।

लगभग पचास साहित्यकारों के साथ हम थाने की ऊँची दीवारों के भीतर पहुँचे। यह तो समझने वाली बात थी कि दुर्गा जैसी माता भी बच्चे को रूलाकर दूध पिलाती हैं, ऐसे में श्रमजीवी की आवाज़ को कौन सुने। पचासों ने मिलकर थाने में जोरदार हल्ला मचाया। सब एक स्वर में बोले कि हम भूख से तबाह हो रहे हैं, मगर कोई पूछने वाला

नहीं है। इस सामूहिक आवाज़ का परिणाम इतना हुआ कि मूँगफली की घुघनी और पानी आ गया। उस समय तक शाम के लगभग पाँच बज चुके थे।

इसके बाद हम सभी को बस में बैठाकर जेल ले जाया गया। पहला गेट पार करते ही बस भीतर घुस गई। तीन बार गिनती हुई। दो बार थाने में और तीसरी बार जेल के मुख्य गेट पर। गेट के भीतर, यानी दूसरे फाटक के पार भी सभी की पहचान दर्ज की गई। जब हम और भीतर पहुँचे तो एक भ्रम टूट गया। वह भ्रम यह था कि जिनका मुख्य मुद्दा था, वे तो पर्ची लेकर बाहर निकल चुके थे, और हम जैसे लोग जेल में रह गए थे, जिनका भाषा और साहित्य से कोई सीधा संबंध भी नहीं था।

जेल का खाना खाने के बाद हम वार्ड में पहुँचे। रात का खाना केवल मूँगफली की घुघनी तक सिमट गया। अब तक जेल का डर कुछ कम हो चुका था, लेकिन जो समाज साथ खड़ा होकर आया था, यानी साहित्यकारों का समाज, उसका अब कोई पता नहीं चल रहा था। खैर, जो था सो था। अंदर कोई जाना-पहचाना चेहरा नहीं दिखा। फिर भी मन को यह सोचकर शांत किया कि गाँव-समाज में भी तो ऐसा ही होता है। जब कोई व्यक्ति पढ़-लिखकर या कमा-खटाकर सामाजिक स्तर पर ऊपर उठता है, तो उसके सामने दो स्थितियाँ आती हैं। पहली, वह सामान्य समाज से दूर हो जाता है और दूसरी, समाज में एक प्रकार का कटाव पैदा हो जाता है।

खाना-पानी तो मिल चुका था, लेकिन नए कैदी के रूप में ड्यूटी अभी बाकी थी। पचासों साहित्यकार अपने-अपने समाज की तरह एक समूह में ही जमा थे। वे अधिकार के आंदोलन के तहत जेल आए थे। हमें एक ही वार्ड में रखा गया। वार्ड मिलते ही ताश और शतरंज आ गई। लेकिन खेलने के लिए साथी चाहिए होते हैं। हमारे पास कोई

खेलने वाला साथी नहीं था। अकेले क्या करते। हमारे भीतर राधा जैसी शक्ति भी नहीं थी कि किसी गँवार कृष्ण को शक्तिवान बना पाते।

वार्ड का जो हाकिम था, यानी सेक्रेटरी, उसने शौचालय के पास जगह दे दी और आदेश दिया कि शौचालय में चार बाल्टी पानी लाकर रखे जाएँ। हम नए थे, डर लगना स्वाभाविक था। और डर क्यों न लगता। मन तो यही कहता था कि अगर मरने के बाद नरक भी हुआ, तो मड़ुआ की रोटी खाकर झेल लेंगे, लेकिन अगर वहाँ भी धक्का-मुक्की हुई, तो कहाँ जाएँगे। ऊपर से हम अकेले थे। जिस सवाल को लेकर जेल आए थे, अगर उसी सवाल से हमें अलग कर दिया गया, तो फिर हमारे बूते क्या रह जाएगा।

डगमगाते हुए मन को किसी तरह सँभालते रहे, जैसे पतंजलि के "चित्तवृत्ति निरोध" की साधना की जाती है। तभी दस या ग्यारह बज गए। सोने का समय हो गया था, इसलिए बिना कुछ कहे नींद घेरने लगी। मन में यह भी चल रहा था कि अभी तो रात के दस–ग्यारह बजे तक का ही दृश्य देखा है। अगर पूरी रात जागकर देखें, तो बहुत कुछ और दिखेगा। काली की निशा पूजा भी तो दस बजे के बाद ही होती है। उधर से भी एक तरह की नशा-सी छाई हुई थी।

इसी बीच एक विचार मन में उठा कि हमारे ही दस कोस के लोग भी जेल में हैं। अभी रात है, इसलिए वे कोठरी में बंद हैं, दिखाई नहीं दे रहे। सुबह जब वे बाहर निकलेंगे, तब अपने कई पहचाने चेहरे मिल जाएँगे। ऊपर से इस समय इतने लोग शराब के मामलों में पकड़े गए हैं कि गाँव-गाँव के लोग यहाँ मिल सकते हैं।

सोने से पहले जैसे लोग किसी शुभ नाम का स्मरण करते हैं, वैसे ही हमने भी भोर की प्रतीक्षा में आँखें मूँद लीं।

सुबह आठ बजे, मूँगफली और गुड़ खाकर हम वार्ड से बाहर

निकले ही थे कि एक सोलह-सत्रह साल का नवयुवक हमारे पैरों में झुक गया। हम उसे पहचान नहीं पाए। बात यह थी कि जब हम सब थाने से विदा हुए थे, तभी जेल में यह ख़बर फैल गई थी कि एक बस आंदोलनकारियों को लेकर आ रही है। उस बस में पूरे ज़िले के आंदोलनकारी थे। जेल में जब कैदियों की संख्या बढ़ती है, तो एक ओर आमदनी बढ़ती है, पर दूसरी ओर विरोध भी बढ़ने लगता है।

पूर्वी दिशा में नीम के पेड़ के पास, खुद को अकेला समझते हुए, मैं अकेले बैठा था। जहाँ लोग होते हैं, वहाँ लोग एक-दूसरे से बातें करते हैं। लेकिन जब कोई गायों के घर में या बंबई आम की कलम के पास बैठा हो, तो वहाँ मनुष्य समय और प्रकृति से ही संवाद करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ शरीर की प्रवृत्तियों, जैसे काम, क्रोध, मोह, और लोभ की चर्चा की जा रही है।

संयोग से खोनगाँव का एक पुराना परिचित टहलते हुए वहाँ आ पहुँचा। चेहरा तो पहचाना लग रहा था, लेकिन उसके टूटे दाँतों वाले मुँह को देखकर कुछ-कुछ अनजान-सा भी लगा। मन में विचार आया कि यहाँ तो मैं पहले आया हूँ, बाद में ये लोग आए हैं। इसलिए घरवाला समझकर मुझे ही पूछना चाहिए। मैंने पूछा-

"आप?"

"आप" शब्द सुनते ही रविकांत भाई के चेहरे पर हल्की-सी हँसी उभरी। हँसी इस बात पर थी कि लोग ठीक ही कहते हैं, विपत्ति में अपने भी पराए हो जाते हैं। खुद को सँभालते हुए रविकांत भाई बोले-

"मैं रविकांत, खोनगाँव से।"

रविकांत भाई का नाम सुनकर मैंने कहा- "रविकांत भाई, जेल का धन्यवाद देना चाहिए कि हमारी भेंट हो गई।"

जो उत्साह मेरे मन में था, वैसा उत्साह रविकांत भाई के चेहरे

पर नहीं दिखा। हालाँकि वे गाँव के समझदार और सधे हुए आदमी थे, लेकिन अँधेरा भी तो हमेशा एक ही दरवाजे से नहीं आता। आँखें मिचमिचाते हुए वे बोले-

"यह दिन का दोष है।"

अब भला दिन का क्या दोष। दिन तो अपना काम करता है। वह किसी को रोकता नहीं कि अच्छा या बुरा मत करो। प्रकृति तो इतनी स्वतंत्रता देती है कि जो चाहो, करो। मैंने पूछा-

"कैसा दिन का दोष, भाई साहब?"

रविकांत भाई बोले-

"दोनों बाप-उत (पिता-पुत्र) में घराड़ी की सीमा को लेकर झगड़ा हुआ। बेटे को समझा रहा था, दो थप्पड़ मार दिए। उसी ने केस कर दिया। अब उसी कारण यहाँ हूँ।"

उनकी बात सुनकर मैंने कहा-

"भाई साहब, क्या कहें। जैसे आप आड़ी-धूरी तोड़कर आए हैं, वैसे ही हम भी। अब तो कल की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।"

उसी बीच रविकांत भाई ने पास खड़े उस युवक से पूछा-

"बेटा, तुम किस केस में आए हो? कौन सा गाँव-घर है?"

एक ही साँस में युवक बोला-

"रुद्रनाथ नाम है। रुद्रपुर घर है। धर्म की लड़ाई के केस में आया हूँ।"

रविकांत भाई थोड़ा चौंके, लेकिन इतने अनुभवी थे कि बात को सहजता से मोड़ लेना जानते थे। उन्होंने पूछा-

"कैसी लड़ाई हुई?"

जेल में झूठ और सच अक्सर साथ रहते हैं। रुद्रनाथ बोला-

"क्रिकेट का खेल चल रहा था। देखते-देखते लोग उत्तेजित हो गए। गाँव के युवकों में दो दल बन गए। समझने वाली बात है कि जैसे नशे को नियंत्रित करने के उपाय हो रहे हैं, वैसे ही नशा करने वालों के अपने मैदान भी तैयार हो रहे हैं। मैं भी सुबह-सुबह जोश में भरकर काफी पीकर आ गया था। चौक पर ही मार-पीट शुरू। मैं आपा खो बैठा। बेहोशी में मार दिया। समझ ही नहीं पाया। उसी में यहाँ आ गया हूँ।" ❑

जीवन के संबंध

☰

कल जब दिनेश भाई को साहित्यिक सम्मान प्राप्त हुआ, तब से लेकर आज चार बजे तक का समय बेचैनी में बीता। लेकिन साढ़े चार बजे तक पहुँचते-पहुँचते वही बेचैनी एक तरह के चैन में बदल गई। साढ़े चार बजे का समय दिन और रात के बीच की हॉटलाइन जैसा होता है, जैसे दो देशों के बीच की सीमा-भूमि।

यदि यह भोर का समय होता, तो पूरब से आती हवा की हल्की थिरकन महसूस होती। लेकिन यह शाम का समय था, जब पछुआ हवा धीरे-धीरे करवट लेने लगती है। रात का पहला पहर पास आ चुका होता है, इसलिए यह समय दिन और रात के संधिकाल का प्रतीक माना जा सकता है। वैसे हॉटलाइन के अपने गुण और दोष दोनों होते हैं। जैसे, सीमा के पास की ज़मीन की कीमत अधिक होती है, लेकिन यह भी खतरा रहता है कि कब कौन-सा देश सीमा पार कर जाए, इसका भरोसा नहीं होता।

दिनेश भाई दरवाज़े पर अकेले बैठे थे। गायत्री मंत्र के जप की तरह, उनके भीतर पहली समीक्षा अपने-आप शुरू हो गई। कल तक वे स्वयं को मन और मनुष्य के बोझ से मुक्त मानते रहे थे, जैसे वे लोग जो यह समझते हैं कि वे एक स्वतंत्र जीवन जी रहे हैं।

वे अच्छी तरह जानते थे कि सेवा कैसे धीरे-धीरे, कण-कण बनकर धरती पर फैलती चली जाती है, और वे स्वयं सेवा से वंचित

रह गए। लेकिन आज की स्थिति वैसी नहीं थी।

जीवन की प्रभात बेला की पहली किरण की सुगंध की तरह, दिनेश भाई के मन में एक नई महक फैल गई थी। यह महक इस भावना की थी कि साहित्य आज भी वही गीत गा रहा है, जिसके बीच समाज उजड़ता चला गया है और अब अपने विकृत चेहरे के साथ समाज के सामने खड़ा है।

इस साहित्य का फल सबके सिर पर भार की तरह है, फिर भी वे सिर उसी धरती में गड़े हुए हैं।

विचारों के इस प्रवाह में दिनेश भाई के मन में एक प्रश्न उठा। यह प्रश्न आज का नहीं है, बल्कि बहुत पहले से चला आ रहा है कि निर्गुण और सगुण की धाराएँ साथ-साथ क्यों बहती रही हैं। एक का संबंध मूर्ति से है, तो दूसरे का ज्ञान से। लेकिन दोनों वास्तव में हैं क्या?

मान लीजिए एक कुर्सी है। उसका भौतिक रूप उसका मूर्त रूप है, और यह कहना कि "यह कुर्सी है", उसका शब्द रूप है। यह एक साधारण-सा प्रश्न प्रतीत होता है, फिर भी इसके पीछे पूरी दुनिया उलझी हुई है। क्या इक्कीसवीं सदी के इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य की सोच अब इतनी ही रह गई है?

शब्दों का खेल ऐसा चल पड़ा है कि वह सबके तर्कों और विश्वासों को, गोनू झा की तरह, मूल में ही उलझा देता है। एक ही धर्म में शब्दों के हजारों रूप और उतनी ही व्याख्याएँ देखने को मिलती हैं।

अचानक दिनेश भाई के मन में यह विचार जागा कि कल तक जो दृष्टिकोण रहा है, उसे यदि गहराई से देखा जाए, तो किसी पात्र की सही रचना संभव हो सकती है।

जब उनके विचार और आगे बढ़े, तो पीछे मुड़कर देखने पर समाज और साहित्य के बीच के संबंध की परतें खुलने लगीं। वे देख पाए कि अब तक समाज और साहित्य, दोनों ही अस्त-व्यस्त और

असंगठित रहे हैं। यही कारण है कि दोनों कोई ठोस, सुसंगठित और संतुलित रूप नहीं गढ़ सके हैं।

अनायास ही दिनेश भाई की दृष्टि भीतर की ओर मुड़ने लगी। उनके भीतर यह बोध जागा कि जितनी ऊर्जा हम दुनिया के इतिहास और भूगोल को समझने में लगाते हैं, यदि उतनी ही लगन से अपने गाँव-घर के इतिहास और भूगोल को समझें, तो उसका अर्थ कहीं अधिक गहरा और सार्थक होगा।

इतिहास और भूगोल कोई खोई हुई चीज़ें नहीं हैं। यदि दुर्गा-भगवती के प्रसाद को विधिपूर्वक समझा जाए, तो भोजन की पूरी संरचना सामने आ जाती है। यहाँ भगवती के दो प्रमुख रूप माने जाते हैं–शाक्त और वैष्णव–लेकिन दोनों के प्रसाद का गुण एक ही जीवन-सूत्र से जुड़ा होता है।

यदि यह भी समझ में न आए, तो किसी साधारण-सी सब्जी बनने की प्रक्रिया पर ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, तिलकोर के पत्ते को पहले आग में पकाकर चटनी बनाई गई, और वही पत्ता धीरे-धीरे तरकारी बनते-बनते तरुआ सब्जी का सिरमौर बन गया।

उसी तरह गाँव-गाँव में बाँधों पर अनाज की रखवाली करने वाले रखबार, कैसे खोपड़ी बनाकर सर्दी, धूप, आँधी और बारिश झेलते हुए जीवन जीते आए हैं। और यह भी उतना ही सत्य है कि उन्हीं गाँवों में आज तीन मंज़िला मकान भी खड़े हैं।

गाँव के भूगोल को समझने के लिए इतना जान लेना पर्याप्त है कि जिस गाँव से पाँच कोस दूर नदी की धारा हट गई, वह चौर की भूमि बन गया। और जहाँ धारा सटी रही, वह कोसी, कमला, बागमती जैसी नदियों का मायका कहलाया। यह भूगोल केवल नक्शे की बात नहीं है, बल्कि जीवन की दिशा को भी निर्धारित करता है।

अचानक दिनेश भाई का मन ठहर गया। ठहरते ही एक विचार उभरा कि साहित्य तो समाज का संगी है, पर संग और साथ में भी अंतर होता है। एक संगी वह होता है जो जीवन भर साथ निभाता है, और दूसरा वह, जो देवघरिया या नवघरिया की तरह होता है। जितनी देर साथ रहा, उतनी देर तक संगी बना रहा, और जब दूरी आई, तो पछुआ हवा की तरह पीठ पीछे चल पड़ा। यह अंतर अब दिनेश भाई के मन में स्पष्ट होने लगा।

मन फिर ठिठक गया। उसी ठिठकन में एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि समाज और साहित्य का संबंध वास्तव में है क्या और होना क्या चाहिए। विचार करते हुए यह साफ हुआ कि समाज और साहित्य का रिश्ता ऐसा है कि कभी साहित्य समाज की लगाम थामता है और कभी समाज साहित्य की। यह एक खींचातानी से भरा हुआ रिश्ता है, जो चलते हुए भी लगातार खिंचता रहता है। कभी साहित्य की दयनीय स्थिति देखकर समाज सहायक बनता है, तो कभी समाज की दुर्दशा देखकर साहित्य आगे आता है।

इसी क्रम में दिनेश भाई की दृष्टि साहित्यिक भावना की ओर गई। उन्होंने सोचा कि समाज की भावनाओं के अनुरूप साहित्यिक संवेदना में कितनी दूरी है। समाज के भीतर समाज बनते और बिखरते रहे हैं, और उन्हीं टूटन और विभाजन के बीच साहित्यिक रचनाएँ भी भरपूर होती रही हैं।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह साहित्य समाज की सामूहिक पीड़ा और चेतना को एक सूत्र में बाँध पा रहा है, या वह भी उसी तरह बिखरे हुए टुकड़ों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। यही प्रश्न दिनेश भाई के मन में गहराता चला गया।

अब तक जो हमारा समाज रहा है, वह वैदिक भावना के अनुरूप बना रहा है, जिसकी पद्धतिगत छाया आज भी कहीं-कहीं

जीवित है। परंतु उसी समाज में समय के साथ गहरी टूटन आई। हजारों वर्षों के विदेशी शासन ने समाज के साथ-साथ साहित्य को भी बुरी तरह प्रभावित किया।

यह स्पष्ट दिखता है कि मध्यकाल में, विशेषकर पूर्व मध्यकाल में जो भक्तिपरक रचनाएँ हुईं और जो रचनाकार सामने आए, उनकी जिह्वा पर यही भाव रहा कि पराया दुःख जानने वाला ही प्रभु के निकट होता है।

पर आगे क्या हुआ? रीतिकाल या उत्तर मध्यकाल में भक्तिपरक विचार कैसे दबते चले गए और श्रृंगारपरक प्रवृत्ति कैसे सत्ता के केंद्र में आ बैठी? यही परिवर्तन सोचने का विषय है।

जैसे साहित्य का रूप गहराता और बदलता है, वैसे ही समाज का भी स्वरूप होता है। ऊपर से हम कोसी अंचल के लोग हैं। जहाँ बाज़ार से आए सेब और नारंगी खाए जाते हैं, वहाँ बिना सोचे तरबूज, फूट या ककड़ी-खीरे की खेती सहज नहीं हो सकती। जहाँ बाज़ारू संस्कृति गाँव-घर तक पहुँच चुकी है, वहाँ ताड़ी पीने या तरबूज खाने के लिए समय निकाल पाना भी आसान नहीं रह गया। वह भी हुआ तो दिन में एक बार, वह भी हो या न हो।

ऐसे समय में व्यक्ति स्वयं को ही असली योग-साधक मानने लगता है। धारा में डूबते-उतराते भँवर की तरह दिनेश भाई का मन भी रुक-रुककर विचारों में डूबने लगा। ठहरना यानी गहराई से सोचना।

दिनेश भाई के मन में यह बात उठी कि समाज ने ही हमें जन्म दिया है। वह माता-पिता की तरह है। यह बात आज की नहीं है, बल्कि सदियों से माता-पिता को पूज्य और देवतुल्य माना गया है। लेकिन आज उन्हीं माता-पिता की स्थिति कितनी दयनीय होती जा रही है।

प्रकृति की गति में परिवर्तन होना स्वाभाविक है, पर प्रश्न यह है कि उस परिवर्तन की दिशा हम अपने विवेक से तय कर रहे हैं या उसे

दिशाहीन छोड़ दे रहे हैं। यही सोचते हुए दिनेश भाई उठे और गाँव के समाज को देखने निकल पड़े।

संयोग से, दिनेश भाई को अकेला देखकर या कानों में पड़ी बातों से उत्साहित होकर सुदामा दादी रास्ते में खड़ी हो गईं। उन्होंने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा-

"बेटा और भतीजा में कोई अंतर नहीं होता। तूँ समाज का बेटा है, इसलिए तूँ भी मेरा बेटा ही है। तूने गाँव की शान बढ़ा दी है।"

सत्तर-पचहत्तर वर्ष की सुदामा दादी, जिनके दाँत टूट चुके हैं और बाल पक चुके हैं, सुबह बाज़ार से लौट रही थीं। रास्ते में एक अन्य गाँव के व्यक्ति ने उन्हें रोककर पूछा-

"दादी, किस गाँव की हैं?"

"प्रेमपुर।"

"दिनेश बाबू को जानती हैं?"

"हाँ।"

"उन्होंने तो हमारे पूरे इलाके का उद्धार कर दिया है। उनसे कह देना कि हम सब उन्हें हज़ार-हज़ार शुभकामनाएँ देते हैं।"

दूसरे गाँवों से मिल रही शुभकामनाओं ने सुदामा दादी का मन भीतर से भर दिया। अपने बेटे को बाहर से प्रशंसा मिलना, एक माँ के लिए जैसे अमृत का अनुभव होता है। दिन के ग्यारह बजे सुनी गई वह शुभकामना उनके काम में जैसे नई ऊर्जा भर गई। वे तेज़ी से अपने काम निपटाने लगीं, ताकि समय रहते दिनेश तक वह संदेश पहुँचा सकें।

लेकिन संयोग से, दिनेश भाई उन्हें पहले ही मिल गए।

वैसे तो दिनेश भाई से हमारी सारी औपचारिक बातचीत कल ही पूरी हो चुकी थी, फिर भी यह उत्साह बना रहा कि वे जीवन का

एक नया मार्ग देखने वाले व्यक्ति हैं। इसका प्रमाण उनका वह जीवन है जिसे हम वर्षों से देख रहे हैं।

जब हमने उन्हें सुदामा दादी से बातें करते देखा, तो मन में यह जानने की उत्सुकता जगी कि दादी क्या कह रही हैं। उनके स्वभाव से हम भली-भाँति परिचित हैं। स्त्रियों में यह सहज गुण होता है कि वे बिना पूरी जानकारी के भी अपनी बात कह देती हैं। जैसे बादाम का अंकुर अगर टेढ़ा निकल आए तो माँ-दादी तुरंत उसे देखकर टोक देती हैं।

हम पहुँचे, तब तक दादी की बातें पूरी हो चुकी थीं। लेकिन उनके चेहरे की जो चमक थी, वह किसी को अशर्फी मिलने जैसी थी। हम कुछ कह पाते, उससे पहले ही वे बोल पड़ीं-

"बेटा, गाँव का नाम अब दस कोस दूर तक फैल गया है।"

मन तो हुआ कि दादी से यह बात किसी सोहर की तरह दोबारा सुनी जाए, लेकिन उसे टालते हुए हमने दिनेश भाई से कहा-

"चलिए भाई, दरवाज़े पर बैठकर समाज के रूप-चित्र पर विचार करते हैं।" ❑

गैंचाह लोग

☰

सूरतलाल काका दरवाज़े की चौकी पर बैठे, मन ही मन अचरज में डूबे सोच रहे थे कि कैसे वे अपने समाज से, अपने ही गाँव के समाज से, कटते चले गए और प्रभुलाल उसी समाज से अब तक जुड़े रह गए। यह सोच मन में एक ऐसी कसक भर देती थी कि लगता, न जाने कौन-सा पाप किया, जो अस्सी योजन के समुद्र में डूबते चले आए।

लेकिन उस अस्सी योजन के समुद्र के बीच भी एक सशक्त धारा थी, जिसमें बहते हुए वे अब तक टिके हुए हैं। दुनिया के रंग-रूप चाहे जितने बदल गए हों, उनकी धारणा आज भी वही है कि दरिद्र नारायण ही सबसे बड़े भगवान हैं। वही भगवान, जिन्हें धक्का देकर और पीछे ढकेला जा रहा है।

हर कोई अपने को गांधीवादी कहता है। देश का शासन भी गांधीवादी विचारधारा के आधार पर चल रहा है। परंतु दरिद्र नारायण भगवान के सच्चे सेवक कितने हैं या हैं भी कि नहीं, यह तो दरिद्र नारायण का हृदय ही जानता होगा।

चार बजे की संध्या बेला में यह आदत बन गई है कि कम से कम दो घंटे अपने से अधिक उम्र वालों के साथ बिताए जाएँ, ताकि जीवन की लीला को देखा और सुना जा सके। उनके बीते जीवन की

कथाएँ सुनने को मिलती हैं, और वर्तमान की स्थिति भी क़रीब से दिख जाती है।

यह बात अब समझ में आ चुकी है कि शिकारी आता है, जाल बिछाता है, दाना डालता है। हमें लोभ में नहीं फँसना चाहिए, लेकिन फिर भी हम फँस जाते हैं। क्या इससे कम शिकारी हम स्वयं नहीं हैं, जो माँ-बाप को भगवान से ऊपर मानते हैं?

मानते कितना हैं, यह कहना कठिन है, लेकिन देखते क्या हैं? क्या आँखों से देखा हुआ सच यूँ ही मिट जाता है?

मन में जैसे एक बेचैनी-सी उठने लगी। तभी सोचा कि ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी पहचान वाले को किसी अनजान डॉक्टर के पास ले जाएँ और किसी अनजान को पहचान वाला मान लें।

मन की इस उद्विग्नता के अनुरूप सूरतलाल काका ही थे। उनसे मिलने के लिए विदा हुए।

दरवाज़े के ओसारे की चौकी पर उन्हें अकेले बैठा देखकर मन में प्रसन्नता हुई कि भरपूर बातें करने का अवसर मिलेगा। थोड़ा आगे बढ़कर दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा-

"काका, प्रणाम।"

जैसे ही मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया, वैसे ही सूरतलाल काका ने भी दोनों हाथ जोड़ लिए और सिर झुका दिया। मुँह से कुछ नहीं बोले- केवल हाथ के इशारे से पास बैठने को कहा। पास बैठते ही मन में विचार उमड़ने लगा कि क्यों न अपना प्रश्न रखूँ।

लेकिन सीधे-सीधे प्रश्न उठाना भी उचित नहीं लगा, इसलिए बात को थोड़ा मोड़ कर कहा-

"काकाजी, क्या कहें! ऐसी-ऐसी लीलाएँ घट रही हैं कि कभी देखकर गुस्सा आता है, तो कभी हँसी भी।"

जिज्ञासावश सूरतलाल काका बोले-

"वह कैसे?"

'वह कैसे' सुनते ही जैसे मन में फैले तमाम विचार तितर-बितर हो गए और एक ही विचार बचा रह गया। मैंने कहा-

"काका, भूत अब गायब हो गया है।"

यह सच है कि मैं खुद को चालाक खिलाड़ी मानता हूँ, लेकिन सूरतलाल काका तो मँजे हुए खिलाड़ी हैं। उनके सामने यह तुरंत समझ नहीं आता कि कोई बात उलझी हुई है या कोई चाल चली जा रही है, लेकिन धीरे-धीरे उनकी पकड़ बहुत मज़बूत हो जाती है। ऐसे ही सूझबूझ वाले विचारक हैं सूरतलाल काका। वे बोले-

"भूत क्या आज ही गायब हुआ है? वह तो उसी दिन गायब हो गया था, जिस दिन बाघ वाला मुँह घरपैसा शिकारी बन गया।"

ईमानदारी की बात यह है कि काका अपनी ही सोच से बोल रहे थे, लेकिन मैं उनकी बात को ठीक से पकड़ नहीं पाया। इसलिए बात को अपनी ओर से तोड़-मरोड़कर कहा-

"काका, मेरी बात कुछ और है। मैं उस भूत की बात कर रहा हूँ, जो आम के बाग में, आम पकने के मौसम में, ढकिया से आम चुरा लेता था। वह भूत अब नहीं रहा।"

अपने विचार को और पुख्ता करने के लिए मन में और भी बातें थीं, लेकिन बीच में ही सूरतलाल काका गला साफ करते हुए बोले-

"भूत गायब हो गया या बाग-बगीचे और कलम ही उखड़ गए, इसलिए भूत भी उखड़ गया।"

मैं कहीं और नहीं, बल्कि सूरतलाल काका के पास ही बैठा था। ऐसे में कोई ऊटपटांग बात कहना खुद की ही फज़ीहत होती। इसलिए बात को थोड़ा मोड़ते हुए कहा- "काका, आप तो मोबाइल नहीं देखते,

लेकिन मैंने तो अपनी पत्नी को यह ज़िम्मा दे दिया है कि खाने-पीने के बाद वह मोबाइल पर कुछ ऐसा सुनाए कि मैं सुनते-सुनते सो जाऊँ।"

मोबाइल का नाम सुनते ही, और इक्कीसवीं सदी के इंसान का चेहरा याद आते ही, सूरतलाल काका वैसे ही ठिठक गए जैसे गणेशजी महाभारत लिखते समय सौवाँ श्लोक पर ठिठक गए थे। काका के ठिठकते ही मुझे अपनी बात रखने का अवसर मिल गया। मैंने कहा-

"काका, आपके ज़माने में आम के बाग में भूत आम चुराया करता था, लेकिन आज का भूत बच्चों को चुरा रहा है।"

सूरतलाल काका जानबूझकर अनजान बने रहे या सच में अनजान थे, यह तो उनका मन ही जानता होगा। वे अनजान बनते हुए बोले- "वह कैसे?"

काका की जिज्ञासा देखकर मेरे मन में उत्साह उमड़ पड़ा। लगा जैसे किसी वीर पुरुष से बातचीत हो रही हो। यह तो समझी हुई बात है कि जैसे गैंची मछली होती है, वैसे ही मनुष्य और समाज भी गैंचियाह चाल में चलते रहते हैं। मैंने कहा-

"काका, समय बदल रहा है, और आप अब भी जहाँ के तहाँ ठहरे हुए हैं। शायद इसलिए आप यह सब देख नहीं पा रहे हैं। लेकिन मैं तो ऐसा नहीं हूँ। समय के साथ चलना मेरी आदत है। इसीलिए पंद्रह हज़ार का मोबाइल अपनी पत्नी को दे दिया है। वह रोज़ शाम को कुछ न कुछ सुनाती रहती हैं। उसी ने बताया कि एकरंगा वस्त्र धारण किये बाबा को 'मुड़ीकट्टा' कहकर गाँव के लोगों ने पकड़ लिया और खूब पीटा।"

बीच में ही सूरतलाल काका ने टोका- "क्यों पीटा?"

जितना समझ में आया था, उतना ही कहा। न अपनी ओर से कुछ जोड़ना था, न घटाना। आखिर हम दर्शक हैं। दर्शक की तरह

निष्पक्ष होकर दुनिया को देखना भी है और कहना भी। मैंने कहा-

"काका, इससे ज़्यादा तो मुझे भी समझ में नहीं आया।"

फिर भी सूरतलाल काका बात पकड़ ही लेते हैं। बोले-

"राजा-रजवाड़ों का भूत तो खत्म हुआ नहीं और कल-कारखानों का भूत मोबाइल पर चढ़कर नाच रहा है।"

मैंने क्या कहा और सूरतलाल काका ने क्या कहा- यह तो हम दोनों ही भीतर-ही-भीतर जानते थे। फिर भी काका बोले-

"इसमें तुम्हारे साथ विचार करने से कुछ नहीं होगा। यह तो पच्चीस हाथ ऊँचे आसन पर बैठे महंथजी और इक्कीसवीं मंज़िल पर बैठकर हिसाब-किताब करने वाले सेवन-जी इंजीनियरों और सट्टा-बाज़ों के बीच की बात है। इसलिए बेकार ही उस दलदल में क्यों फँस रहे हो कि मुड़ीकट्टे को लोगों ने क्यों पीटा।"

सूरतलाल काका के विचारों के प्रवाह में मैं बह गया। और जैसे बहते हुए आदमी के मुँह से सहज ही कुछ निकल जाता है, वैसे ही मेरे मुँह से भी निकल पड़ा-

"ठीक ही तो है, काका।"

विचारों की उस धारा में डूबते-उतराते और अपने भीतर की प्यास बुझाते हुए सूरतलाल काका बोले-

"बेटा सुनरलाल, मेरी उम्र अब जीवन की अंतिम सीमा के पास पहुँच गई है। इसलिए यदि मैं अपने जीवन का प्रबंधन खुद सँभाल पा रहा हूँ, तो यही मानो कि अपने वर्तमान को देखकर आगे की राह चुन रहा हूँ।"

सूरतलाल काका की बात मैं पूरी तरह उनके अर्थों में नहीं समझ पाया, लेकिन यह भी नहीं कह सकता कि कुछ भी समझ में नहीं आया। उत्साहित होकर, भरोसा जताते हुए मैंने कहा- "ठीक ही तो

है, काका।"

मेरे उत्साह को देखकर, और स्वयं भी जीवन के प्रवाह में बहते हुए, सूरतलाल काका बोले-

"बेटा सुनर, गाँव में मैं और प्रभुलाल लंगोटिया साथी हैं।"

'लंगोटिया' शब्द मैंने पहले नहीं सुना था, इसलिए मेरे कान चौकन्ने होकर खड़े हो गए। मेरे हावभाव देखकर सूरतलाल काका समझ गए कि शब्द मेरी समझ से बाहर है। उन्होंने सहज भाव से समझाते हुए कहा-

"लंगोटिया शब्द का प्रयोग यहाँ दो अर्थों में होता है। पहला, जब दो या तीन-चार बच्चों का जन्म एक ही समय में होता है और वे लंगोट पहनकर एक साथ खेलते हैं। दूसरा, लंगोट पहलवानी का भी प्रतीक है, जहाँ अखाड़े में लड़ने के लिए पूरी जान की बाज़ी लगाकर लंगोट बाँधी जाती है।"

यह सुनते ही जैसे पेट में अटकी सारी साँसें एक साथ बाहर निकल गईं। मन हल्का हो गया। मैंने टोकते हुए कहा-

"काका, लेकिन प्रभु ककाबला की बात तो बीच में छूट गई।"

सूरतलाल काका का मन शांत महासागर की सतह जैसा स्थिर हो गया। शांत चित्त से बोले-

"बेटा सुनर, अस्सी बरस से हम दोनों–मैं और प्रभुलाल–साथी हैं। एक की मृत्यु को दूसरा देखेगा ही। लेकिन जो कलाकारी प्रभुलाल में है, वह मुझमें कभी नहीं रही। इसी वजह से समाज से दूरी भी बन गई थी, और फिर दोबारा जुड़ने में कई बरस लग गए।"

सूरतलाल काका की यह तुलना मुझे पूरी तरह समझ में नहीं आई। 'कलाकारी' शब्द तो हज़ारों रंगों वाला होता है। मैंने विनम्रता से पूछा- "काका, ज़रा फिर से कहिए।"

बार-बार पूछने का अर्थ होता है किसी शब्द के भीतर छिपी वस्तु को समझने की सच्ची जिज्ञासा। सूरतलाल काका बोले-

"सुनर, इस विचार को किसी और दिन विस्तार से कहूँगा। अभी इतना समझ लो कि वस्तु की बारीकी और शब्द की लोच प्रभुलाल में मुझसे कहीं अधिक है। यह बात अब जाकर, जीवन के इस पड़ाव पर, समझ में आई है।" ❑

जीवन को साधने की दौड़

☰

ज्येष्ठ मास का दिन था, समय लगभग नौ बजे। चारों ओर गर्मी का प्रभाव फैल चुका था। संसार में रहते हुए तरह-तरह के लोगों से भेंट होना स्वाभाविक है। कोई अपनी मशीनों की ड्यूटी की पहली पाली में समय पर पहुँच जाता है, तो कोई बिजली के पंखे के स्थान पर ताड़ के पंखे को पानी में भिगोकर एक हाथ से झलता रहता है और दूसरे हाथ से कमीज़ पर बहते पसीने को पोंछता रहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी चिंता से पसीना बहा रहा है। वह तो ज्येष्ठ मास की नौ बजे की धूप से उपजे पसीने को ही पोंछ रहा होता है।

आधुनिक वेश-भूषा में भागीरथ भाई घर पहुँचे। पूरी पैंट, शर्ट, कोट और टाई पहने हुए थे। पत्नी को पहले से सूचना थी, इसलिए वह दरवाज़े पर ही खड़ी थीं।

पत्नी को सामने देखकर भागीरथ भाई बोले-

"यात्रा बहुत अच्छी रही। सुबह चार बजे ही समुद्र तट के पास स्थित कोच्ची हवाई अड्डे पहुँच गया था। समुद्री ज्वार की ठंडी हवा चल रही थी। मन पूरी तरह प्रसन्न हो गया।"

पति की मस्ती और समुद्र तट वाले केरल के वर्णन को सुनकर देवसुनरी मन ही मन गुँड़-चावल चबाने लगी। आख़िर बात कुछ और ही है, पर पत्नी तो मैं ही हूँ। आधी हिस्सेदार भी तो हूँ। आग्रहपूर्वक वह बोली- "चाय पिएँगे, कुछ खाएँगे या कुछ ठंडा लेंगे?"

नए वातावरण से लौटा होने के कारण भागीरथ भाई की सोच अभी स्थिर नहीं हुई थी। पत्नी पर रौब जमाते हुए वे बोले-

“अब तक कलजुगी भट्ठे की तरह पेड़ से लटकी रहती हो और इतना भी नहीं समझती कि समय के अनुसार हम सबको कार्योन्मुख होने का अभ्यास करना चाहिए। दो कामों के बीच का समय ही वास्तव में आराम होता है। कपड़े बदलो और काम में लगो।”

बोलते-बोलते भागीरथ भाई समझ गए कि देवसुनरी बातों में भले ही सीधी-सादी हों, लेकिन व्यवहार में कहीं न कहीं थोड़ी कमी रह जाती है, जिससे ज़िंदगी पूरी तरह सँवरी हुई नहीं लगती। फिर उनका मन उन्हें वहीं रोक दिया। कारण यह था कि ज़िंदगी कोई संकरी गली नहीं है। जैसा भी आदमी हो, उसमें अपने-अपने हिस्से की ज़िम्मेदारियाँ जुड़ ही जाती हैं। कम से कम घर का सारा बोझ तो वही सँभाल रही हैं। वे यह भी समझते थे कि वे दिन के चौकीदार नहीं, बल्कि रात के सिपाही हैं।

कपड़े बदलकर भागीरथ भाई ने टंकी से पानी लेकर हाथ-मुँह धोया, लेकिन पानी पीने की इच्छा नहीं हुई। समय से बँधी भूख-प्यास, यानी नियमित जीवन जीने वाले व्यक्ति की भूख-प्यास समय के अनुसार ही चलती है। नहाने का समय आए तो नहाने की चाह होती है, खाने का समय आए तो भूख लगती है और सोने का समय आते ही नींद उतर आती है। यहाँ यह बात नाचने-गाने वालों की नहीं है, बल्कि संयमित जीवन जीने वाले व्यक्ति की हो रही है।

अपनी कोठरी में, यानी उस निजी कमरे में, जहाँ उन्होंने अपने जीवन की सारी व्यवस्था सहेज रखी है, पहुँचकर भागीरथ भाई ने जीवन को तौलने का विचार किया। जब उन्होंने अपने बीते जीवन पर नज़र डाली तो मन के भीतर एक अजीब-सा चित्र उभर आया। देखा कि एक ओर जीव-हत्या पर रोक है और दूसरी ओर राम ने लंका जला

दी। पंचकन्या की गिनती में द्रौपदी भी आती हैं, जिनका विवाह पाँच पतियों से हुआ, जबकि उसी समाज में सती-प्रथा के नियम भी लागू थे। गंगा, जिसे संसार को पार लगाने वाली कहा गया, आज स्वयं गंदगी से भरी हुई है।

इन विरोधाभासी विचारों को भागीरथ भाई ने ऐसे समेटा, जैसे कोई सौंफ का बिछावन समेटकर दलान के कोने में रख देता है। उन्होंने खुद को भी अपने मन के ओसारे के एक कोने में खड़ा कर लिया। यज्ञकर्म में अन्न, वस्त्र और द्रव्य जैसे थाली-लोटा धर्मदान की श्रेणी में आते थे। यह बात निश्चित रूप से उस समय के लिए बड़ी रही होगी, जब पीने के पानी तक के लिए कुएँ-तालाब और लोटा-गिलास की भी कमी थी। तब वह सचमुच धर्म का कार्य था। लेकिन आज समाज वैसा नहीं रहा। अब तो घर-आँगन में गिलास-लोटे बिखरे पड़े हैं।

एकाएक भागीरथ भाई के मन में वैसी ही खुशी उभर आई, जैसी किसी मेहनती को दिन भर के काम के बाद मिलती है। कठिन परिश्रम करने वाला ही अपने श्रम से खुद को साध पाता है, और वही आज का सच्चा मनुष्य कहलाने योग्य बनता है।

यह बात कानों-कान सुनने में आ गई कि भागीरथ भाई केरल के कोचीन से किसी साहित्यिक कार्यक्रम में हिस्सा लेकर गाँव लौटे हैं। यह सुनकर मन हुआ कि क्यों न उनसे वहाँ की कोई बात पूछी जाए। वैसे भी दक्षिण भारत का नाम आते ही, स्कूल में भूगोल की किताब में पढ़ा नीलगिरि पहाड़ मन में गूँजने लगा। बाकी बातें तो समय के साथ भूल चुके थे। थोड़ा ध्यान लगाने पर वहाँ की नारियल और सुपारी की खेती याद आ गई। फिर अपने यहाँ के खाने के तेल की बातें भी मन में उभर आईं।

वहाँ तो लोग नारियल के तेल को जीवन में पूरी तरह अपना

चुके हैं। हमारे यहाँ की तरह नहीं कि कोई कहे कि सरसों का तेल अच्छा है, कोई राई की बात करे, कोई तिल की वकालत करे, और कोई सूरजमुखी के गुण गिनाने लगे। जैसे हर मौसम का अपना फल होता है, वैसे ही हर तेल के भी अपने प्राकृतिक गुण होते हैं। बात केवल इतनी है कि कौन-सा तेल कितना और कैसे प्रयोग किया जाए। इसी समझदारी से जीवन का संतुलन बना रहता है।

भागीरथ भाई के घर जाने में कोई संकोच नहीं था। वे हमारे अपने भैया हैं और उनकी पत्नी भौजी। काकी हैं, उनसे दिन भर चिपके रहते हैं।

मैं पहुँच गया। दरवाजे पर जाकर नम्रतापूर्वक कहा-

“भाई, आपने तो उत्तर से लेकर दक्षिण तक देश का भ्रमण कर लिया। उन माता-पिता और गाँव-समाज को बधाई दीजिए, जिन्होंने आप जैसे बेटे को जन्म दिया और उसे आगे बढ़ाया।"

मेरी बात सुनकर भागीरथ भाई मुस्कराए, पर बोले कुछ नहीं। उनके मन में विचार उठा कि क्यों न देवकान्त को, जो उनका छोटा भाई ही है, कुछ अपने अनुभव सुना दिए जाएँ। लेकिन फिर सोचा, वह खुद ही कोई बात पूछे तो ठीक रहेगा। आखिर उत्सुकता जब हो, तब बातों का स्वाद भी बेहतर होता है।

मैंने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-

“भाई, नीलगिरि पहाड़ अब भी वैसे ही हैं, या लोगों ने तोड़कर सब सीमेंट बना डाला?"

भागीरथ भाई जानते थे कि देवकान्त ऐसा व्यक्ति है, जो हँसी में भी गंभीर बात को पकड़ लेता है, और गुस्से में भी भीतर से शीतल बना रहता है। ऐसे व्यक्ति को बातचीत में अपने अनुरूप ढाला जा सकता है।

थोड़ी मुस्कान के साथ भागीरथ भाई बोले-

"देवकान्त बौआ, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर तुरंत देना आसान नहीं है कि नीलगिरि पहाड़ अब भी वैसे ही हैं, या उन्हें तोड़कर फैक्ट्रियों में सीमेंट बना लिया गया है।"

भागीरथ भाई के चेहरे पर कोई मलिनता नहीं आई, लेकिन मन में एक क्षण को लगा कि शायद वे पीछे हट गए हों। पर ऐसा नहीं था। थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर कहा-

"देवकान्त बौआ, तुमने भूगोल तो वैसे पढ़ा नहीं कि मन में कोई पुरानी छवि बैठी हो। जो सोलह आने आँखों से देखा है, वही कह रहा हूँ।"

मुझे यह बात तुरंत समझ में आ गई। आँखों का देखा धोखा नहीं देता। आँख वही है जो सच्चाई देखती है, और जो देखा गया, वही सबसे बड़ा प्रमाण होता है। यदि नारायण के दर्शन हो जाएँ, या उनके जैसे किसी उपयोगी प्रसाद का रूप दिख जाए, तो जीवन की राह अपने आप सुधर जाती है। और अगर उसी में नरक की दिशा रुक जाए, तो वह सबसे बड़ा वरदान होता है।

मेरा मन भी मचलने लगा। सोचा, आज तो दक्षिण भारत की यात्रा का अनुभव सुनकर ही सही, कुछ दर्शन हो ही जाए। मैंने मुस्कराते हुए कहा-

"भाई साहब, नेकी और पूछ-पूछ! वैसे भी हम तो थोड़े बेसमझ हैं, यूँ ही बहकते-बहकते कुछ न कुछ पूछ ही बैठते हैं। रहने दीजिए।"

भागीरथ भाई मेरे स्वभाव से भलीभाँति परिचित हैं। इसलिए बात को गंभीरता में न लेते हुए, हल्के-फुल्के अंदाज़ में बोले-

"बौआ, हम न समुद्र के पास हैं, न पहाड़ के। यहाँ से पहाड़ भी दस-बीस कोस दूर हैं और समुद्र तो दो-चार राज्यों के पार। इसलिए

कह सकते हैं कि हम दोनों ओर से सुरक्षित हैं।"

उनकी बात में जैसे कोई पुराने भूगोल की छाया उतर आई। मैं भी बहाव में बह गया। मुँह से अपने-आप निकल पड़ा-

"हाँ, यह तो है ही।"

मेरी सहमति पर वे न मुस्कराए, न नाराज़ हुए। सहज भाव से बोले-

"बौआ, बातों-बातों में लोग कहते हैं कि देश की रक्षा समुद्र और पहाड़ करते हैं।"

मैंने भी बीच में कहा-

"हाँ, करते ही हैं।"

भागीरथ भाई ने बात को थोड़ा और स्पष्ट किया-

"पहाड़ स्थावर हैं, पत्थर से बने हैं। इसलिए वे उपद्रव नहीं करते। लेकिन समुद्र वैसा नहीं है। वह तो बस पानी है, पर पानी ही सबसे बड़ी शक्ति है। उसी से तमाम ऐसे तत्त्व निकलते हैं, जो मनुष्य के जीवन को कठिन बना देते हैं।"

मेरे मन में जैसे कोई बात ठहर गई। वह ठहराव उदासी जैसा था। विषय की गहराई ने मुझे भीतर से छू लिया। मैंने धीरे से कहा-

"हाँ... यही तो।"

भागीरथ भाई भी अपनी देखी-सुनी बातों को जैसे अपने जीवन में महसूस करने लगे थे। थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले-

"बौआ देव, जिस रूप में तूँ चीजों को देख रहा है, वैसा हर किसी के साथ नहीं होता। देखो न, दिलीप की सात पीढ़ियों के बाद भागीरथ ने गंगा को धरती पर उतारा। वैसे ही श्रम करते-करते ही श्रमिक महाश्रमण बनता है। जब तक वह शक्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक कुदाल चलाना हो या गैंचा उठाना, सब कुछ भारी ही लगता है।"

उनकी बात ने जैसे मेरे भीतर की जिज्ञासा को जगा दिया। मैंने पूछा-

"तो फिर वह शक्ति मिलेगी कैसे?"

भागीरथ भाई के चेहरे पर जैसे कोई पुराना अनुभव उतर आया। बोले-

"जैसे गंडक नदी सोनपुर में जाकर गंगा से मिलती है, या जैसे गंगा अंत में जाकर सागर से मिलती है, वैसे ही जीवन का भी अपना प्रवाह है। जब तक पिछले जीवन को पकड़कर नए जीवन को नहीं अपनाओगे, तब तक नया जीवन भला कैसे मिलेगा?" ❑

अंतिम आशा

☰

छठ पूजा की सुबह थी। यह तो सर्वविदित है कि हर पर्व पर ताज़ा प्रसाद बाँटा जाता है, और छठ में प्रात: काल। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसान के जीवन में पहले श्रम और धन की क्षति होती है और बाद में फल प्राप्त होता है। कृत्यानन्द काका अकेले दरवाज़े पर बैठे, मन ही मन सोच रहे थे कि जैसे उनके जीवन की एक चौथाई उम्मीदों पर पानी फिर गया हो।

कृत्यानन्द काका एक बीघा ज़मीन वाले किसान थे। अब वे जीवन के अंतिम चरण में पहुँच चुके थे, फिर भी अपने अब तक के जीवन से संतुष्ट थे। हाई स्कूल से आगे पढ़ाई नहीं कर सके। किसान परिवार में जन्मे थे, इसलिए खेती-बाड़ी के जीवन के अलावा न तो किसी और जीवन की कल्पना ही मन में उभरी, न ही किसी अन्य जीवन-धारा का प्रभाव पड़ा।

सुबह के आठ बजे का समय था। जेठ महीने में तेज धूप महसूस होने लगती है, पर कार्तिक का महीना वैसा नहीं होता। ऊपर से शरद ऋतु का अंतिम चरण भी था, इसलिए वातावरण में एक ऐसी मादक शक्ति उत्पन्न हो रही थी, जिसने समय को सुगंधित कर दिया था।

पढ़ाई छूटने के बाद कृत्यानन्द काका ने अपने विचार प्रकट करते हुए पिता से कहा- “बाबू, आप लोगों की जो खेती की परंपरा रही है, वह अब पुरानी पड़ गई है। देखता हूँ कि पहले अल्हुआ-सुथनी

खाकर दाई- माई व्रत का फलाहार करती थीं, अब मिसरी के छोटे-छोटे टुकड़ों से व्रत कर लेती हैं।"

'मिसरी के बच्चे' का अर्थ जागेसर बाबा भली-भाँति समझ गए। बात ठोस थी, पर छोटे-छोटे टुकड़ों में कही गई थी। समझ-बूझकर बोले-

"बेटा! किस्से-कहानियाँ जीवन नहीं होतीं, पर होती भी हैं। जब जीवन खुद किस्सा और कहानी बन जाए, तभी जीवन-गाथा कहलाता है। नहीं तो जवानों की बातें झूठ नहीं, बूढ़ों की बातें झूठ होती हैं। जो मन में है, उसे खुलकर कहो।"

पिता की बात को आदेश मानकर कृत्यानन्द काका बोले-

"बाबू, अब मैं जवान हो गया हूँ। इसलिए अब से कुदाल चलाकर खेती का सारा भार मैं सँभालूँगा। आप थोड़ा हल्का काम, यानी गाय पालने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लीजिए। जैसे राजा दिलीप ने गायों की सेवा कर दिलीप कहलाया, गायों को चराकर राजा खिरहरि यसस्वी बने, और उसी तरह गाय चराकर कृष्ण ने भी अपनी पहचान बनाई। आप भी वैसा ही कीजिए।"

समाज में आदिकाल से ही गाय पाली जाती रही है। गाय एक ऐसा पशुधन है जो अमृत समान दूध देती है। साथ ही समाज में कोई जाति या संप्रदाय ऐसा नहीं है जिसे गाय पालने की स्वतंत्रता न हो। दूसरी ओर, समाज में ऐसे लोग भी हैं जो भूमि के बँटवारे को ही समृद्धि का प्रतीक मानते हैं। पर यह मान लेना कि जो लोग अपने हाथों से नल से पानी भी नहीं पीते, वे गाय की देखभाल कर पाएँगे, एक भ्रांति है। यह सोच दोनों के मन में थी। जागेसर बाबा और कृत्यानन्द काका दोनों ही यह चाहते थे कि परिवार आगे बढ़े और सुखी रहे।

पढ़ा-लिखा न होने पर भी जागेसर बाबा के मन में यह विचार

आया कि खेती से लेकर गाय की सेवा तक का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिससे कार्य में खिंचाव आ सकता है। उधर, कृत्यानन्द काका का मन नए उत्साह से भरा हुआ था। जैसे देश की आज़ादी के समय राजनीतिक चेतना की बाढ़ आई थी, जैसे ही लाल बहादुर शास्त्री जी की साहसिक आवाज़, 'जय जवान, जय किसान', ने किसान जीवन को गहराई से प्रभावित किया था।

भारत एक बड़ा देश है। यह कहना सही नहीं होगा कि यह दुनिया का सबसे बड़ा देश है, क्योंकि इससे बड़े सात देश और भी हैं। फिर भी, भारत ऐसा देश है जिसका भूगोल और जनसंख्या मिलाकर पचास देशों के बराबर आँका जा सकता है।

यह तो भौगोलिक पक्ष है। यहाँ संदर्भ कृत्यानन्द काका और जागेसर बाबा के विचारों का है। अब तक परिवार में जो विचारधारा बहती आई थी, वह किसी नदी की तरह थी। अपने उद्गम से निकलकर वह निरंतर प्रवाहित होती हुई समाज रूपी समुद्र में जाकर मिलती रही।

उस समय कृत्यानन्द काका सोलह वर्ष के नवयुवक थे। हाई स्कूल से मैट्रिक तक की शिक्षा उन्हें मिल चुकी थी। इसके ऊपर से प्रधानमंत्री शास्त्री जी की किसान-पक्षधर आवाज़, लाउडस्पीकर से भी अधिक तेज़ होकर, खेतों के सर्वांगीण विकास के कार्यक्रम के साथ सामने आ खड़ी हुई थी।

फिर भी यह एक कड़वा सच था कि देश और किसान, दोनों ही, हजारों वर्षों की गुलामी से पिसे हुए थे। यह नहीं कहा जा रहा कि जैसे त्रेता युग में राजा जनक ने अढ़ाई बीघा के खेत में लोहे की फाल लगी लकड़ी के हल से खेती की थी, वैसे ही इक्कीसवीं सदी में भी वही हल और वही तरीके चल रहे हैं।

एक बीघा ज़मीन में कृत्यानन्द काका का सात जनों का परिवार

अब तक हँसते-खेलते जीवन जीता आया है। जब तक कृत्यानन्द काका ने बैंक की सहायता से बोरिंग नहीं कराई थी, तब तक परिवार में अन्न की कोई कमी नहीं थी। लेकिन बोरिंग हो जाने के बाद, एकाएक अन्न-उत्पादन तीन से चार गुना तक बढ़ गया। समय के साथ कृत्यानन्द काका ने अन्न को तीन रूपों में, यानी खाद्यान्न, दलहन और तिलहन के रूप में, परिवार के खर्च के अनुसार योजना बनाकर खेती का कार्य आगे बढ़ाया।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। कुछ तिलहन शुद्ध तिलहन होते हैं, जबकि कुछ खाद्यान्न के रूप में भी उपयोगी होते हैं। उदाहरण के तौर पर, तीसी से तेल भी निकलता है और उसकी चटनी भी बनाई जाती है। इसी तरह, सरसों और तोड़ी के तेल का उपयोग न केवल पकवानों में, बल्कि चटनी और अचार बनाने में भी होता है।

एक बीघा ज़मीन में कृत्यानन्द काका के पास बारह कट्ठा धनहर, छह कट्ठा चौमास और दो कट्ठा घराड़ी की भूमि है। जब से खेत में पानी उपलब्ध हुआ है, उन्होंने फसल-चक्र के अनुसार समय को पहचानकर किसान जीवन को सुचारु रूप से चलाया है। छह कट्ठा चौमास की ज़मीन से वे भोजन को छोड़कर जीवन की अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं।

विकास की दौड़ में गाँव भी साथ चला, लेकिन दीर्घकालिक दृष्टि के अभाव में विकास का कार्य दिशा-विहीन हो गया। केवल मधुबनी ज़िले में ही दो दर्जन से अधिक नदियाँ हैं। मोतिहारी से किशनगंज तक की तो बात ही छोड़ दीजिए। गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदानी क्षेत्र का ढलान उत्तर से दक्षिण की ओर है, जिससे पानी का प्रवाह स्वाभाविक रूप से संभव है। इसके बावजूद, आज मिथिलांचल की सबसे बड़ी समस्या जल-जमाव बन गई है।

पता चला, या कहें उड़ती हुई ख़बर सुनी, कि कृत्यानन्द काका

ने छठ पर्व में नई किस्म की दमाइन से हाथ उठाया है। 'नई किस्म की दमाइन' का नाम सुनते ही मन चटपटा गया। बहुत दिनों से उबली हुई दमाइन खाई नहीं थी। उस पर कृत्यानन्द काका की दमाइन से भरी डाली हाथ में उठाने की चर्चा सुन ली। इसमें न तो किसी प्रकार की खुशामद थी, न ही कोई पैरवी की ज़रूरत लगी।

जिस प्रकार पोखरा खुदवाने वाला व्यक्ति पोखरे के बीच में गज गाड़कर हाथ उठाकर मंत्र पढ़ता है और कहता है, "भाइयों, लोगों के बीच सीमा निर्धारित कर दी गई है, और सबको यह अधिकार है कि धोबी घाट से लेकर स्नान घाट तक सभी स्थानों को अपना समझकर उपयोग करें," उसी प्रकार विचार और संबंधों का भी यही स्वरूप होता है। हम विदा हुए।

दरवाज़े पर अकेले बैठे कृत्यानन्द काका मन ही मन कुछ सोच रहे थे। उनके चेहरे पर भावों का क्रमिक परिवर्तन हो रहा था। मैंने कहा-

"काकाजी, छठ की शुभकामनाओं के साथ आपको प्रणाम करता हूँ।"

मेरी बात सुनते ही कृत्यानन्द काका ने उत्तर दिया, "छठ की शुभकामनाएँ केवल तुम्हारी ही नहीं हैं, हमारी भी हैं। हम भी तुम्हें शुभकामनाएँ देते हैं।"

काका की बात सुनकर मन में दमाइन की चर्चा छेड़ने का विचार आया। सोचा, जैसे ही बात शुरू होगी, काका परिवार को दमाइन उबालने का आदेश दे देंगे। तब तक बातचीत चलती रहेगी और दमाइन भी पककर तैयार हो जाएगी। यानी अभोज्य से भोज्य बन जाएगी। लेकिन तुरंत ही यह भी लगा कि मैं व्यर्थ ही दमाइन की चर्चा नहीं करूँगा। काका इतने पारखी हैं कि ख़ुद ही समझ कर बात कहेंगे।

वही हुआ। कृत्यानन्द काका ने कहा- "बौआ हराशंख, हम सब

समुद्र के हराशंख जैसे हो गए हैं। बाहर से रंग और रूप तो वही है, लेकिन भीतर का गूदा समाप्त हो चुका है।"

काका की इस बात को सुनते ही मेरी दृष्टि भी दौड़ी। और उसी क्षण समझ में आ गया कि जैसे फूला हुआ मखाना या शंख-सितुआ पानी की सतह पर तैरता रहता है, जिसे बीनना तो सरल होता है, लेकिन खाने के समय मालूम होता है कि वह बिना गूदे का फल है, वैसे ही हम लोग भी हो गए हैं।

काका के विचारों के प्रवाह में बहते हुए मैं बोल पड़ा-

"हाँ, यह तो है ही।"

एकाएक कृत्यानन्द काका ने अपनी बात और तीखी करते हुए कहा-

“हराशंख, फूले हुए मखाने से भी बदतर हाल तो अब हमारे पेट के गूदे का हो गया है।”

मन में विचार आया कि यदि मैं काका के विचारों में पूरी तरह बह गया तो अपने मन के विचारों को खो बैठूँगा। इसलिए बात को मोड़ने के इरादे से मैंने कहा-

“काकाजी, पता चला है कि आपने नई किस्म की दमाइन उपजाई है।”

मैं जानबूझकर काका को इशारा दे रहा था, लेकिन वे अपनी ही लय में थे। बोले-

“बौआ हरा, ऐसा दिन कब आएगा जब बहू के मुँह से गाली सुननी पड़ेगी।”

यह सुनकर मन में प्रश्न उठा कि काका ने ऐसा क्यों कहा। फिर सोचा कि शायद आज की संतानों की चाल-ढाल देखकर उन्होंने यह बात कही हो। क्योंकि आजकल तो पिता कहते हैं कि तूँ बेटा नहीं है,

और बेटा भी उसी अंदाज़ में कह देता है कि आप भी बाप नहीं हैं।

मैंने बात को थामने के लिए कहा-

"काकाजी, हरि अनंत है और हरि की कथा भी अनंत है।"

कृत्यानन्द काका जैसे विचारों के ज्वार में बहते चले गए और बोले-

"हराशंख, हमारे यहाँ अडुआ दमाइन की कभी कोई गिनती नहीं रही कि उसे नवाचार कहा जाए। दमाइन उपजी है तो क्या इसे हम अकेले प्रसाद की तरह खाएँ? पाँच ले जाओ, पूरे परिवार के साथ मिलकर खाना।"

मन तृप्त हो गया। मेरे संतुष्ट चेहरे को देख काका बोले-

"बौआ, जीवन की दो तिहाई आशा टूट चुकी है।"

मैंने जिज्ञासा से पूछा-

"कैसे काकाजी?"

अपने जीवन की कथा सुनाते हुए काका बोले-

"बौआ, शरद की फसल लगाने की सीमा पर छठ का पर्व आता है, जब चारों दिशाओं के रास्ते खुलते हैं। तुम देख ही रहे हो कि जिस चौमास की ज़मीन के सहारे चालीस वर्षों से परिवार चलता आ रहा था, आज उसकी दो तिहाई पैदावार समाप्त हो चुकी है। यानी जहाँ तीन मौसम की खेती होती थी, अब केवल एक मौसम की खेती ही बची है।"

कृत्यानन्द काका सीधे और स्पष्ट शब्दों में बोल रहे थे, फिर भी मैं पूरी तरह समझ नहीं पाया। बात को संभालते हुए मैंने कहा-

"जाने दीजिए काका। दुनिया प्रतिस्पर्धी है या शरीफ, यह दुनिया ही जाने।" ❑

अराजक सामूहिक मारपीट

☰

प्रकृति की भी अपनी विचित्र लीलाएँ हैं। कभी वह कुछ वर्षों तक मन को अस्थिर करती है, फिर धीरे-धीरे उसे स्थिर कर देती है, और समय के साथ स्वयं को जोड़कर एक ही उम्र की बहन की तरह हँसते-हँसते आगे बढ़ती है। वहीं, कभी-कभी वह स्वयं को भी संकट में डाल लेती है और लोगों को भी। जैसे जेठ महीने का आधा समय बीत जाने पर अचानक बाढ़ आ जाती है, जिससे अनजाने में अनेक वस्तुएँ और प्रजातियाँ नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही इस बार लछमीपुर गाँव में दुर्गापूजा की यात्रा के दिन यही हुआ।

जेठ महीने की बाढ़, यानी साल की पहली बाढ़ आने से पहले, नदी के भीतर रखी वस्तुओं को सामान्यतः अनुमान के आधार पर पहले ही हटा लिया जाता है। लेकिन अनुमान तो अनुमान ही होता है; वह सही भी हो सकता है और गलत भी। लछमीपुर की दुर्गापूजा में आई बाढ़ भी वैसी ही साबित हुई। धक्का-मुक्की और मारपीट की स्थिति बन गई। यह मारपीट ऐसी थी कि कुछ लोग बिना वजह पिटे और कुछ बिना कारण ही दोषी मान लिए गए।

क्या यह कहा जाए कि दुर्गास्थान में मारपीट हुई और दुर्गा माँ केवल देखती रहीं? नहीं, वे देख नहीं रही थीं। साल-दर-साल उन्हें महिषासुर का वध करना पड़ता है। वे अपने ही कर्म में रत थीं, इसलिए मेले की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई।

समाज की लीलाएँ भी कम विचित्र नहीं हैं। जैसे लोगों के बीच मेल-मिलाप होता है, वैसे ही मुँह-दुस्सानी और कटुता भी पनपती है। यह कहना गलत नहीं होगा कि मुँह-कटाई भी एक सामाजिक वास्तविकता बन चुकी है। जैसे दूसरों की ओर देखते हुए अपना रास्ता भटक जाता है, वैसे ही दूसरों को दोष देते समय व्यक्ति अपने दोष को भी अनदेखा कर देता है। समाज में जातिगत वैमनस्य, सांप्रदायिक वैमनस्य, आर्थिक असमानता और अब तो सौहार्दपूर्ण वातावरण के प्रति भी एक प्रकार की वितृष्णा फैल चुकी है।

हम जैसे साधारण लोग तो यही समझते हैं कि यदि दो वस्तुएँ हों और दोनों ही समान अनुपात में कड़वी-मीठी हों, तब भी हम कड़वे को अधिक कड़वा और मीठे को कम मीठा बताने लगते हैं। यही तो समाज का स्वभाव है। लोग हर रंग-रूप को अपनाते हैं। कहीं वैशाली के प्राचीन जनतंत्र की चर्चा होती है कि ढाई हजार वर्ष पहले से हमारे यहाँ लोकतंत्र था, और कहीं कुछ और। लेकिन आज के परिवेश को देखकर क्या यह कहा जा सकता है कि इतना पुराना जनतंत्र वास्तव में कितना परिपक्व हुआ है?

किसी भी देश या समाज के लोकतंत्र की परख इस बात से होती है कि वह जीवन की मूल समस्याओं को कितनी ईमानदारी से समझता है और जीवन को कितना सहज बनाता है। समाज में आज आस्था के नाम पर जिस तरह अनास्था फैलाई जा रही है, उसे प्रदूषित गंगा को देखकर आसानी से समझा जा सकता है। आस्था के नाम पर प्रदूषण फैलाने वाले भी हम ही हैं और प्रदूषण-मुक्ति के आंदोलनों को चलाने वाले भी। यही तो पूरा खेल है। किसी रोग का सही इलाज यही है कि बीमारी की जड़ तक जाकर उसे समाप्त किया जाए। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा हो रहा है?

इस समय लछमीपुर गाँव में पंद्रह दिनों से दो दर्जन सुरक्षाबलों

के साथ दंडाधिकारी की ड्यूटी लगी हुई है, और यह कब तक चलेगी, कहना मुश्किल है। हालाँकि गाँव के माहौल में कुछ सुधार अवश्य आया है। एक ओर जहाँ हवाई यात्रा और मेट्रो रेल जैसी सुविधाएँ बढ़ रही हैं, वहीं दूसरी ओर चौक-चौराहों पर ताश-जुए के साथ-साथ देश-विदेश के खेल जैसे क्रिकेट, टेनिस और हॉकी भी लगातार खेले जा रहे हैं। इन खेलों के पीछे भी भीड़ लगातार बढ़ती जा रही है।

प्रदूषण की चर्चा होती है, सफाई भी होती है, फिर भी प्रदूषण कम नहीं होता। गाँव के लोग लगातार शहर की ओर उन्मुख हो रहे हैं। क्यों हो रहे हैं, यह समझना और उस पर विचार करना हम सभी की ज़िम्मेदारी है। अमेरिका में बैठकर गाँव की प्रशंसा कर देने से गाँव अपने आप गुणी नहीं बन जाएगा।

अब तक दुर्गास्थान की मारपीट को हम बस इतना ही समझ पाए हैं कि यात्रा की रात, यानी विसर्जन की रात, झगड़ा हुआ था। मारपीट में दो पक्ष होते हैं, और हम किसी पक्ष में नहीं हैं। इसलिए न तो हम किसी से कुछ पूछते हैं और न ही कोई हमें अपना मानकर भीतर की बात बताता है। इसका एक लाभ यह ज़रूर हुआ है कि मन कभी बोझिल नहीं होता।

गाँव में मनोहर भाई को हम शुरू से ही प्रिय व्यक्ति मानते आए हैं। गाँव के भीतर समस्या है, और हम भी उसी गाँव के निवासी हैं, इसलिए कुछ जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। भीतर से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि गाँव दो हिस्सों में बँट चुका है। लेकिन दरार तो दरार ही होती है। कागज़ी नींबू को उसकी लंबाई के अनुसार आसानी से दो भागों में बाँटा जा सकता है, लेकिन गोल आलू में चाकू फिसल ही जाता है। मनोहर भाई ऐसे फिसलने वाले व्यक्ति नहीं हैं। उन्होंने अपने जीवन की सीमाएँ स्पष्ट रूप से तय कर रखी हैं। वे जानते हैं कि कौन-से कार्य करें, किनमें भाग लें और किनसे दूर रहें।

क्या यह कहा जा सकता है कि मनोहर भाई प्रिय व्यक्ति हैं? निःसंदेह, उनकी अपनी स्पष्ट दृष्टि है और उसी के अनुरूप उन्होंने अपना दृष्टिकोण गढ़ा है। अपने स्वभाव और समझ के आधार पर उन्होंने अपनी दिशा स्वयं तय की है, अपना रास्ता चुना है और उसी पर लगातार चलते रहे हैं।

समाज का स्वरूप दिन-ब-दिन अधिक विचित्र होता जा रहा है। यदि झूठ बोलने वालों का आकलन किया जाए तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि आज जितनी बड़ी संख्या में लोग झूठ बोल रहे हैं, उतनी संख्या शायद भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं रही। आज झूठ बोलने वालों की जो भरमार है, वह अभूतपूर्व है।

ऐसा क्यों हुआ? इतनी बड़ी संख्या में लोगों को झूठ बोलने की आदत कैसे पड़ गई? यही तो परजीवन है। जब तक मनुष्य अपने स्वजीवन से हटकर परजीवन जीता रहेगा, तब तक लोगों के बीच संबंध झूठ पर ही आधारित बने रहेंगे। प्रश्न यह है कि इसका सुधार कैसे होगा? सुधार अचानक नहीं होगा। रातोंरात कोई बदलाव संभव नहीं है। लेकिन जैसे-जैसे परजीवन, स्वजीवन की दिशा पकड़ेगा, वैसे-वैसे सुधार अपने आप होता जाएगा।

मनोहर भाई दरवाज़े पर अकेले बैठे, लंबे समय से गाँव के विषय में ही सोच रहे थे। यही वह गाँव है जहाँ एक बीघा या एक हाथ ज़मीन के लिए, चाहे वह आड़ी-मेढ़ी क्यों न हो, लोग जीवन भर मारपीट से लेकर कोर्ट-कचहरी तक भटकते रहे हैं। जमींदारी प्रथा के टूटने के बाद समाज में भूमि विवादों की शुरुआत हो गई। हालाँकि उससे पहले भी खेत-खलिहान की छीना-झपटी में झगड़े और मारपीट होती रही है।

इसी बीच एक नई स्थिति भी उत्पन्न हुई। अब मालगुजारी के बदले ज़मीन की नीलामी होने लगी है।

जो हुआ, सो हुआ। जब भूमि विवाद कुछ हद तक शांत होने लगे, तब मंदिर, मस्जिद और कब्रिस्तान से जुड़े झगड़े भी कुछ कम हो गए। भले ही इन धार्मिक स्थलों के विवादों में थोड़ी कमी आई हो, लेकिन साम्प्रदायिक तनाव पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। पहले समाज में साम्प्रदायिकता का आधार जाति या समुदाय हुआ करता था, लेकिन अब एक नया आधार बन रहा है। इसे समझने के लिए बस इतना कीजिए कि अपने दो बच्चों को दो अलग-अलग विद्यालयों में पढ़ाकर देख लीजिए।

आज एक ही परिवार में यह देखा जा सकता है कि बाहर गए युवकों में से अधिकांश ने अपनी-अपनी धार्मिक या सांस्कृतिक पहचान को खुलकर अपनाया है। इसका उदाहरण उनके पहनावे और व्यवहार में स्पष्ट दिखता है, जैसे कानों में पहनी गई कनौती, हाथ-पैर में बंधे धागे, बलियाँ और अन्य अनेक प्रतीक। यह पहचान अब एक ऐसी खाई बनती जा रही है जो पिता और पुत्र के बीच की दूरी को और गहरा करती है। समाज में ऐसा ही एक नया परिवेश धीरे-धीरे बनता जा रहा है।

हालाँकि इन बातों से न तो हमें कोई विशेष मतलब है, और न ही मनोहर भाई को।

दरवाज़े पर बैठे मनोहर भाई को देखकर मन में विचार आया कि यह मुलाकात शुभ है। शुभ यात्रा का अर्थ ही है समय पर किसी प्रिय व्यक्ति से मिलना। मैं थोड़ा आगे बढ़ा और कहा-

"भाई साहब, प्रणाम करता हूँ।"

मनोहर भाई ने अपना ध्यान भीतर की सोच से हटाया और मेरी ओर देखकर बोले-

"रामखेलावन, आओ-आओ, बैठो। बताओ, गाँव का हालचाल कैसा है?"

यह सुनकर मुझे क्षणभर के लिए अचरज हुआ। मैं तो गाँव का हालचाल पूछने आया था, और उलटे मनोहर भाई मुझसे ही पूछ बैठे। फिर सोचा कि आजकल समाज में यह चलन सा बन गया है कि चाहे समझदार हों या नासमझ, सभी एक-दूसरे से हालचाल पूछ लेते हैं। शायद मनोहर भाई ने भी इसी परिपाटी में यह प्रश्न किया होगा।

मैंने कहा-

"भाई साहब, गाँव का हालचाल क्या बताऊँ। जहाँ प्रेम और सौहार्द होना चाहिए, वहाँ भैंसों के सींगों जैसी टक्कर और मारपीट हो रही है। यही तो गाँव का हाल है।"

जो कुछ कानों से सुना था, अपनी समझ के अनुसार वही कह दिया। लेकिन मनोहर भाई का चेहरा अचानक गंभीर हो गया। गंभीर स्वर में उन्होंने पूछा-

"गाँव के हालात से तुम्हें डर लगता है?"

मनोहर भाई का यह प्रश्न सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। असमंजस इसलिए कि फोर्स तो समाज और देश की सेवा में लगे सिपाही होते हैं, वहाँ डरने की क्या बात हो सकती है। लेकिन जहाँ सेवा के स्थान पर उपेक्षा और दमन का प्रश्न खड़ा हो जाए, वहाँ डर लगना स्वाभाविक है।

मैंने मुस्कुराते हुए कहा-

"भाई साहब, जब आप हैं ही, तो डर की क्या बात है।"

अपनी जिम्मेदारी और अपनापन समझते हुए मनोहर भाई ने बात का रुख बदलते हुए पूछा-

"रामखेलावन, पंद्रह दिन पहले दुर्गास्थान में जो मारपीट हुई थी, उसका असली कारण क्या था?"

मैं वहाँ मौजूद नहीं था कि आँखों से देख पाता या कानों से

ठीक-ठीक सुन पाता। गाँव में जितने लोग होते हैं, उतनी तरह की बातें भी उड़ती रहती हैं। ऐसे में किसे सच मानूँ? इसलिए अपने को अलग रखते हुए मैंने कहा-

"भाई साहब, मारपीट का असली कारण क्या था, यह मुझे ठीक से पता नहीं है। ऐसे में कुछ भी कह देना ठीक नहीं होगा।"

मनोहर भाई बोले-

"हाँ, यह तो ठीक नहीं होगा। लेकिन जितना मैं समझ पा रहा हूँ, उसमें यह मारपीट अब 'गजपट' बन गई थी।"

मारपीट तो मारपीट होती है। कोई मारता है, कोई मार खाता है। या फिर दोनों पक्ष एक-दूसरे को मारते हैं और मार खाते हैं। मारपीट कोई नाप-जोख कर थोड़ी ही होती है। लेकिन इसमें गजपट कैसे बन गया? मैंने पूछा-

"गजपट कैसे, भाई साहब?"

मनोहर भाई बोले-

"अब तक गाँव के सार्वजनिक स्थानों पर जो मारपीट होती थी, वह दो जातियों या दो समुदायों के बीच होती थी। लेकिन इस बार जो हुआ, उसमें ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, यादव और मुसलमान, सभी शामिल थे। सभी ने मारा भी और सभी पर मुकदमे भी दर्ज हुए। इसलिए यह गजपट बन गया।" ❑

कन्हजोड़

☰

एक तो मेघाच्छन्न मौसम, ऊपर से अमावस्या की भोर। इसलिए स्वाभाविक रूप से उजाला होने में देर हो गई। अंधेरा छाया रहने के कारण मैं बिस्तर पर ही पड़ा रहा। कृष्ण पक्ष की दशमी, एकादशी से लेकर चतुर्दशी और अमावस्या की भोर तक का अंतर कुछ वैसा ही होता है, जैसा शुक्ल पक्ष में दशमी और एकादशी से पूर्णिमा की भोर तक क्रमशः बढ़ती उजास में होता है। मैं तो अंधेरे की वजह से लेटा रहा, लेकिन पत्नी उठ चुकी थी।

हम दोनों, पति और पत्नी, के बीच विचारों का मतभेद अब तक के जीवन में हमेशा बना रहा है। विवाह के दिन संभवतः समझौता हो सकता था, क्योंकि वह दोनों का पहला मिलन था। लेकिन उस दिन विवाह की इतनी सारी विधियाँ और रीति-रिवाज़ चल रहे थे कि भोर तक सबकुछ उसी में व्यस्त रहा। जो मन की बातें थीं, वे मन में ही रह गईं। इसलिए वह पहला अवसर समझौते का नहीं बन सका और मतभेद बना ही रहा।

यह कहना गलत नहीं होगा कि हमारे बीच मतभेद है। मतभेद यह है कि पत्नी प्रतिदिन, अपने दैनिक काम छोड़कर अंधेरे में ही उठ जाती है। चापाकल पर जाकर हाथ-पाँव धोती है, फूलों की डलिया साफ करती है, फूल तोड़ने जाती है और फिर नित्यकर्म में लग जाती है। मेरा विचार इससे भिन्न है। मैं स्वयं को ही अपना भगवान मानता

हूँ और अपनी सेवा-टहल स्वयं करता हूँ।

यहाँ एक बात और है। भगवान का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर मैं ईमानदारी से यही देता हूँ कि गाँव-समाज में आज भी बहुत से लोग बातचीत के दौरान यह कह देते हैं कि मनुष्य स्वयं भगवान का स्वरूप है। मेरा शास्त्र और पुराणों से कोई विशेष परिचय नहीं है, लेकिन जिनके मुख से यह विचार निकलते हैं, मैं उनसे सहमत रहता हूँ और उसी के अनुसार जीवन जीता हूँ।

पर पत्नी ऐसी नहीं है। वह प्रतिदिन फूल चुनती है, स्नान-ध्यान करके पूजा करती है। उसके मुख से जब पर्व-त्योहारों की चर्चा सुनता हूँ, तब न केवल तिथियाँ याद आती हैं, बल्कि मौसम की चाल-ढाल भी समझ में आने लगती है।

नींद से उठकर प्रातःकालीन कर्मों से निवृत्त होकर मैं तैयार हुआ और चाय की आशा में बैठ गया। मैं यह भी मानता हूँ कि पूर्वजों ने यह ठीक ही कहा है कि घर से निकलने से पहले पेट में थोड़ा-सा ऐसा जल-आहार अवश्य डाल देना चाहिए, जो अगली भूख का मुँह कुछ देर के लिए बंद रख सके।

हालाँकि, पत्नी को चाय लाने में देर हो रही थी। इसका एक कारण यह भी था कि फूल तोड़ने के लिए जब वह निकली, तो फूलबाड़ी में उसकी मुलाकात बिशौलवाली और नवानीवाली भाभी से हो गई। वहीं तीनों गाँव और समाज की दशा-दिशा पर चर्चा करने लगीं।

बातों के क्रम में बिशौलवाली भाभी बोली- "समाज में कहीं-कहीं ऐसा भी होता है।"

जिस तरह बिशौलवाली ने छंदबद्ध लहज़े में बात कही, उसी अंदाज़ में नवानीवाली भाभी ने उत्तर दिया- "समाज में सब कुछ होता है। जो नहीं होना चाहिए, वह भी हो ही जाता है।"

इस बीच मेरी पत्नी, यानी सुचित्रा, दोनों के चेहरों को ध्यान से देख रही थी। यदि बात उसकी समझ में आ रही होती, तो वह ज़रूर कुछ न कुछ टोक देती। लेकिन उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था। तभी नवानीवाली ने सुचित्रा की उलझी हुई आँखें देख लीं और हँस पड़ी।

पत्नी को लगा कि नवानीवाली उसकी चढ़ी हुई आँखों पर हँस रही है। इससे उसके मन में हल्की जलन सी उठी। हालाँकि, मन चाहे जितना भी खौल जाए, इंसान खाना छोड़ थोड़े ही देता है।

सुचित्रा बोली-

"सुबह-सुबह आप दोनों अपने-अपने मन में गुड़-चावल खा रही हैं और मेरी तरफ देख रही हैं।"

उसकी बात सुनकर बिशौलवाली को लगा कि सुचित्रा अब तक रात की बात नहीं समझ पाई है। वह बोली-

"कल रात क्या हुआ था, यह भी नहीं समझी?"

सुचित्रा ने आश्चर्य से कहा-

"नहीं।"

बिशौलवाली मुस्कराकर बोली- "हरेकृष्ण और रोहिणी जाने कब से साथ पड़े हुए हैं।"

सुचित्रा ने पूछा-

"क्या किसी ने उन्हें भागते देखा है, या फिर बिना किसी आधार के ही बातें उड़ाई जा रही हैं?"

बिशौलवाली ने जवाब दिया- "दोनों साथ कॉलेज में पढ़ते हैं। उनके बीच आना-जाना था और माँ-बाप को भी सब पता था।"

फूल तोड़कर सुचित्रा आँगन में आई, फूलों की डलिया रखी और चाय बनाने लगी। पूजा करने के कारण उसने खुद चाय नहीं पी। कप में चाय लेकर मुस्कराते हुए वह दरवाज़े पर आई।

वैसे, मेरे मन में झुँझलाहट उठने लगी थी कि इतने समय से चाय के लिए बैठा हूँ, लेकिन चाय का कहीं अता-पता नहीं है। मगर सुबह-सुबह झुंझलाना ठीक नहीं लगा। जिसे जो अच्छा लगे, वह करे, पर मुझे तो सुबह-सुबह बाल-मंडली का मिलना शुभ लगता है।

कुछ समय बीत जाने पर पत्नी ने चाय बढ़ाते हुए कहा

"फूल तोड़ने में थोड़ी देर हो गई थी, इसलिए चाय बनाने में भी देर हो गई।"

मैंने मन ही मन मान लिया कि अगर कोई अपनी चूक या गलती स्वीकार कर ले, तो वह चूक या गलती नहीं रह जाती। ऊपर से पत्नी के चेहरे पर कुम्हार की कन्या जैसी हल्की-सी मुस्कान भी तैर रही थी। चाय पीकर गाँव की ओर निकल पड़े। पत्नी ने कुछ नहीं कहा। हालाँकि बिशौलवाली भौजी ने पूरी जानकारी दे दी थी यानी रात में हरेकृष्ण और रोहिणी के भागने की बात, लेकिन वह बात उसने मुझसे नहीं कही।

दस कदम आगे बढ़े होंगे कि रास्ते के किनारे वाले चापाकल पर महिनाथपुर वाली और रूद्रपुर वाली को आपस में कहा-सुनी करते सुन लिया। हालाँकि आँखें रास्ते पर ही रखी थीं, लेकिन कान उसी कहा-सुनी की ओर लगा दिए थे कि आखिर क्या-क्या आवाजें उठ रही हैं। किसी से कुछ पूछना ठीक नहीं लगा, क्योंकि औरतों के बीच की बातचीत या तकरार में मर्द होकर शामिल होना ठीक नहीं माना जाता। अगर मर्दों के बीच बात होती, तो शामिल हुआ भी जा सकता था, लेकिन उसकी भी एक सीमा होती है।

आगे बढ़ते ही खड़ी वाली काकी की आवाज कानों में पड़ी

जो होना था, वह हो गया। दान-दहेज के कारण ही लोग अपनी परी जैसी बेटी का हाथ लंगड़े-लूले के हाथ में थमा देते हैं, लेकिन अगर दान-दहेज छोड़ दिया जाए, तो कन्हजोड़ तो होगा ही।

पीछे मुड़कर कुछ पूछना उचित नहीं लगा, इसलिए आगे बढ़ गया। मन में विचार आया कि चौराहे की ओर नहीं जाना चाहिए। चौराहों पर बेकार की चर्चाएँ होती हैं। कोई कुछ कहेगा, कोई कुछ और, और बात-बात में अनावश्यक कहा-सुनी शुरू हो जाएगी, जो सात पीढ़ियों तक की बातें उखाड़ने तक पहुँच सकती है।

जो समय बीत गया, वह बीत गया। लेकिन आज का समय ही अपना है, और शायद किसी और के लिए भी यही आज का जीवन है। इसी का हिसाब-किताब जीवन में रखना चाहिए।

बीता हुआ जीवन भी सुप्त ज्वालामुखी की तरह होता है, जो अपने भीतर कोयले के साथ हीरा भी छुपाए रहता है। लेकिन उसे परखने के लिए जौहरी चाहिए, वरना वह केवल कोयला ही समझा जाएगा।

मैंने चौराहे का रास्ता छोड़ दिया और रतन काका के यहाँ चला गया। गाँव में वही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो किसी भी बात को साफ-साफ, बिना लाग-लपेट के कह देते हैं। हालाँकि उनके कहने से कभी-कभी दोहरी हवा के झोंके लगते हैं, लेकिन वे कबीर जैसे हैं, जिन्होंने जगन्नाथ में अपनी खूँटी गाड़ दी थी, या विवेकानंद जैसे, जिन्होंने समुद्र के किनारे अपना आत्मविश्वासपूर्ण आसन बना लिया था। शायद यही कारण है कि रतन काका का मन मजबूत बना रहता है।

सौभाग्य से रतन काका उस समय बाहर नहीं गए थे। वैसे भी कैसे जाते? गाँव में ऐसी घटना घट चुकी थी, जिसने अब तक चली आ रही सामाजिक व्यवस्था, विशेष रूप से जाति के भीतर विवाह की परंपरा, को झकझोर दिया था।

मैं वहाँ पहुँचा, तो देखा कि रतन काका को रात की घटना की जानकारी बरबरिया दे रहा था। उसे देखकर मन थोड़ा सिहर गया। सिहरने का कारण यह था कि वह शरीर से तो पहलवान जैसा लगता

है, पर सोच-विचार में लापरवाह है। शरीर पर जितनी जेबें हैं, उनमें उतनी ही राजनीतिक पार्टियों के झंडे लगे हैं, और हर जेब में अलग जातीय चालबाज़ियाँ भरी हुई हैं।

बरबरिया एक ही बात को सत्रह रंगों में रंगकर समाज में फैला देता है। जैसे आम के पेड़ पर ढेर सारे पके आम लगे हों, और कुछ अनाड़ी या बेसमझ लोग पत्थर मार-मारकर कच्चा आम तोड़ लें और खुद को अनुभवी समझने लगें, वैसा ही बरबरिया समाज में है।

खैर, जो जैसा है, जहाँ है, वहीं रहे। न मुझे उससे कोई मतलब है, न रतन काका को। फिर भी समाज में रहकर इतना जुड़ाव तो रखना ही पड़ता है, क्योंकि हम भी इसी गाँव-समाज का हिस्सा हैं, और समाज के प्रति हमारी भी जिम्मेदारी है।

आज जो माहौल समाज में बन रहा है, क्या उसके भागीदार हम और आप नहीं हैं? एक ओर मनुष्य मशीन बनकर उत्पादन में लगा है, और दूसरी ओर लड़कियों-बच्चों से लेकर छठी मैया तक की मन्नतें मानी जा रही हैं। यह विरोधाभास विचित्र है।

रामराज्य की कल्पना में सब बराबर माने जाते हैं। राम को ब्रह्म भी समझा जाता है, ब्रह्मचारी भी और राजकुमार भी।

हमारे पहुँचते ही रतन काका ने बरबरिया से कहा-

“बड़बड़, जो जानकारी तुम्हें है, वही बताओ। हो सकता है कि घटना का विषय इससे कुछ अलग हो।”

बरबरिया बोला-

“काका, भोर में हल्ला हुआ। पहले यह खबर फैली कि रोहिणी कहीं भाग गई है।”

बीच में रतन काका ने पूछा- “उस हल्ले को तुमने कैसे समझा?”

मुस्कराते हुए बरबरिया बोला- “काका, अब ज़माना बदल गया

है। जैसे संचार तंत्र परिपक्व हुआ है, वैसे ही औरतों की संचार व्यवस्था भी मज़बूत हो गई है। हम तो बिस्तर पर ही करवट बदल रहे थे, तभी पत्नी भागती हुई आ गई और वही बात बताई।"

मन में बरबरिया के प्रति खटास थी, लेकिन ताज़ा घटनाओं में झूठ कम और सच ज़्यादा होता है। हमने कहा-

"अगर यह बात किसी और के मुँह से सुनते, तो झूठ भी हो सकती थी। लेकिन जब पत्नी ने बताई हो, तो उस पर संदेह करना ठीक नहीं। आगे क्या हुआ?"

सामाजिक आदमी की तरह बोलते हुए बरबरिया बोला-

"आगे क्या होगा, वह तो अब होगा। अभी तक जो हुआ है, वही मैंने बताया है।"

बरबरिया की बात समझ में आई, तो हमने रतन काका की ओर देखा। वे समझ गए कि यह मामला समाज का है। अपने निष्कपट मन से वे बोले-

"गौरी, यहाँ हम सब अपने ही समाज के लोग हैं। आगे क्या ठीक होगा, यह हम सब मिलकर सोचेंगे और एकमत से निर्णय लेंगे।"

रतन काका के 'एकमत निर्णय' की बात सुनकर हमारा हौसला बढ़ा, और बरबरिया भी चुप हो गया। इसलिए थोड़ा रुककर हमने कहा-

"काका, आप जो कहेंगे, हम वही मानेंगे।"

रतन काका बोले-

"जैसे समाज में बेटी को केवल एक जाति की नहीं, बल्कि सबकी बेटी माना जाता है, वैसे ही उसके जीवन की चिंता भी हम सबको करनी होगी।" ❑

अनहोनी

☰

सूरज उगने से एक घंटा पहले, रोज़ की तरह बिस्तर से उठकर दिशा-मैदान के लिए उत्तरबरिया बाँध के पोखरे की ओर जा रहा था। आँगन से निकलकर सोनिया दादी और रूपनी दादी रास्ते के किनारे खड़ी आपस में बातचीत कर रही थीं। तभी सोनिया दादी बोलीं-

"अनहोनी को भला कौन रोक सकता है।"

सोनिया दादी के मुँह से निकला शब्द "अनहोनी" सुनकर मन एकदम ठहर-सा गया। अब तक मैं 'होनी' और 'अनहोनी' जैसे शब्दों को उसी तरह समझता रहा था, जैसे नेता लोग "सोलह दूनी आठ" कहकर अपने भाषण की खानापूरी कर लेते हैं। लेकिन इस बार दादी का यह शब्द सीधे ज़ेहन पर चोट कर गया। 'होनी' का अर्थ होता है–जो होना निश्चित है, और 'अनहोनी' वह–जो नहीं होना चाहिए, फिर भी हो जाए। इन शब्दों के अर्थ पर सोचते-सोचते मेरे क़दम धीमे पड़ गए और चाल सुस्त हो गई।

इसी बीच रूपनी दादी ने कहा-

"क्या आज ही पहली बार ऐसा हुआ है, या यह सब हमेशा से होता आया है?"

उनकी बात पूरी तरह समझ में नहीं आई। क्या हमेशा से होता आया है? दुनिया में जहाँ भी जो कुछ है, उसमें थोड़ा-बहुत जोड़-तोड़ तो चलता ही रहता है। फिर भी मैं चुप रहा।

सोनिया दादी बोलीं- "यह समय-समय का गुण भी होता है और दोष भी।"

उनकी बात को बीच में काटते हुए रूपनी दादी बोलीं- "यही तो गाँव है और यही समाज है। क्या आज पहली बार ऐसा हुआ है, या हर दिन कुछ न कुछ होता ही रहता है?"

मैं अपने भोर के काम के लिए उत्तरबरिया पोखरे की ओर जा ही रहा था, इसलिए बीच में रुककर पूछताछ करना उचित नहीं समझा और आगे बढ़ने का निश्चय किया। साथ ही मन में यह बात भी बैठ गई कि उम्र और अनुभव के आधार पर ही समाज बनता है, जिसमें अपने समान लोगों के बीच ही विचार-विमर्श होता है। इसलिए उन दोनों के बीच दख़ल देना मुझे ठीक नहीं लगा।

गाँव से बाहर पोखरा है। वहाँ पहुँचने के लिए मुझे तीन टोले पार करने पड़ते हैं। एक पंथ दो काज हो जाते हैं, गाँव-समाज की खबरें भी मिल जाती हैं और करीब दो किलोमीटर टहलना भी हो जाता है। दस क़दम आगे बढ़ते ही पछबरिया और पुबरिया टोले की ओर से आने वाले रास्ते आपस में मिलते हैं, जिससे वह जगह एक तरह से चौराहे जैसी लगती है। हालाँकि वहाँ कोई चाय-पान की दुकान नहीं है, इसलिए उसे 'चौक' नहीं कहा जाता।

इसी बीच मैंने देखा कि पछबरिया टोले की ओर से सोनेलाल भागता हुआ आ रहा है। मैं अपनी राह पर ही बढ़ता जा रहा था। तभी हल्का-सा घूमकर वह बोला- "राधाकांत, ज़रा रुकना।"

'रुकना' सुनते ही मैं ठहर गया। पास आकर, हाँफते हुए, वह बोला- "भैया, गाँव में ज़ुल्म हो गया है।"

'ज़ुल्म हो गया है' सुनते ही मन चौंक उठा। तुरंत खयाल आया कि ज़ुल्म भी एक जैसा नहीं होता। कुछ ज़ुल्म ऐसे होते हैं जिन्हें लोग हँसकर टाल देते हैं, और कुछ ऐसे जिनके लिए लोग अपनी जान तक

दाँव पर लगा देते हैं। मन बेचैन हो गया। मैंने कहा-

“सोनेलाल, ऐसे घबराए हुए क्यों हो? ठीक से, साफ़-साफ़ बताओ कि क्या हुआ है।”

सोनेलाल बोला-

“भैया, मैंने भी बात आधी-अधूरी ही सुनी है, इसलिए अभी ठीक-ठीक कुछ नहीं कह सकता।”

‘आधी-अधूरी बात सुनना’ भी दो तरह का होता है। पहला, जब कोई व्यक्ति खुद घटना का हिस्सा रहा हो और उसी से अधूरी बात सुनी जाए। दूसरा, किसी और के मुँह से सुनी गई बात। इन दोनों की बुनियाद अलग होती है, इसलिए घटना का रूप भी बदल जाता है। वैसे, दूसरों के मुँह से सुनी बातों में भी फर्क होता है।

एक होता है अपनी आँखों से देखा हुआ बयान।

दूसरा होता है किसी और से सुनी हुई बात।

इन दोनों में भी फ़र्क होता है, जो बोलने वाले व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ज़्यादातर बातें हवा में बना लेते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो हवा से ज़्यादा सच बोलते हैं।

मन में तर्क-वितर्क चल ही रहे थे कि एक सवाल उभर आया, ज़ुल्म हुआ है, लेकिन कैसा ज़ुल्म? सोनेलाल की बातों से अभी तक कुछ साफ़ नहीं हो रहा था। मैंने फिर पूछा-

“सोनेलाल, ज़रा ठीक से बताओ, हुआ क्या है?”

सोनेलाल बोला-

“राधाकांत भैया, गाँव की बात है, इसलिए आपको खबर देने आया हूँ। आप खुद ही समझ जाएँगे। अभी मैं बस इतना कह सकता हूँ कि काँहदन मोतीलाल ने अपनी ही दोनों पत्नियों को मारकर फेंक

दिया है।"

'मारकर फेंक दिया है' सुनते ही मन सिहर उठा। यह कोई साधारण बात नहीं थी। उसी समय मन में विचार आया कि जो मेरा रोज़ का नित्यकर्म है, जैसे टहलना, शौच से निवृत्त होना, मुँह-हाथ धोना, उसे छोड़कर पहले घटना स्थल पर जाकर देख लेना चाहिए कि असल में क्या हुआ है।

इसी बीच शरीर की आंतरिक प्रक्रिया शिथिल पड़ गई। ऐसा अनुभव हुआ जैसा कई बार थाने-पुलिस या किसी बड़ी घटना के बारे में सुनकर कुछ लोगों को शौच की तीव्र इच्छा हो जाती है, और कुछ का पेट भय या तनाव में सूखकर सख्त हो जाता है। मेरे साथ भी कुछ वैसा ही हुआ।

मैंने सुनी हुई खबर को मन में अख़बार की तरह मोड़कर रख लिया और आगे बढ़ गया।

पोखरे के घाट पर पहुँचा। वहाँ महार के आँगन में बैठा। महार से पहले सहोर का दतमन काटकर लाया। दतमन रखकर शौच से निवृत्त हुआ, फिर दतमन किया, मुँह-कान धोया, और जब हाथ धो ही रहा था, तभी सुखनी दादी घाट पर पहुँच गईं। बिना किसी भूमिका के उन्होंने कहना शुरू किया- "एक तरफ लोग सत्रह साल के लड़के-लड़कियों को मतदान का अधिकार और स्वतंत्रता देते हैं, और दूसरी तरफ बीस-बाईस साल के लड़के-लड़कियों ने अगर अपनी मर्ज़ी से शादी कर ली तो वह बहुत बड़ा ज़ुल्म कहलाता है।"

सुखनी दादी की बात बिजली की तरह मन में गिरी। भीतर कुछ झुरझुरा गया, जैसे आत्मा को गहरा धक्का लगा हो। मन टूटने लगा। कुछ कहने का साहस नहीं बचा।

साहस होता भी कैसे? जहाँ समाज जातियों में बँटा हो और जातियाँ आपस में खेमों में विभाजित हों, वहाँ एक-दूसरे के बीच

आकाश-पाताल जैसा अंतर होता है। विचार, व्यवहार और जीवन की दिशाएँ एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होती हैं।

इस अनुभव से यह बात स्पष्ट हो गई कि संस्कृति, धर्म और व्यवहार के बीच एक बड़ी खाई बन चुकी है। कुछ खाइयाँ प्रकृति की हैं, और कुछ मनुष्य द्वारा बनाई गई हैं।

जो भी हो, चुपचाप सिर झुकाए, पोखरे के महार से आगे बढ़ते हुए घर की ओर चल पड़ा। वहीं से यह सोचकर निकला था कि सीधे घर जाऊँगा, लेकिन रास्ते में विचार बदल गया। अब यह लगा कि अपने काम को थोड़ी देर के लिए टालकर पहले इस सामाजिक घटना को देख लेना चाहिए।

मन मान गया। रास्ते पर चलते हुए मैं उदय काका के यहाँ पहुँच गया।

वैसे, मेरे पहुँचने से पहले ही उदय काका रात में घटी घटना की टोह लेने के इरादे से दरवाज़े से नीचे उतर चुके थे। तभी मैं पहुँचा। उदय काका ठिठक कर खड़े हो गए। मैंने कहा- “काका, सुबह-सुबह गाँव की ऐसी खबर सुनी है कि मन में घबराहट फैल गई है।”

मेरी बात को उदय काका ने मन ही मन तौल लिया। शायद इसी कारण उन्होंने तुरंत विषय से जुड़ा उत्तर नहीं दिया, बल्कि बोले-

“समाज एक ऐसा ढाँचा है, जिसका निर्माण किसी एक जगह बैठकर लिए गए एकमात्र निर्णय से नहीं हुआ है। जैसे देश में संविधान सभा बैठी, संविधान बना और पूरे देश में लागू हो गया, वैसे समाज नहीं बना।”

उदय काका के विचारों की धारा में मैं भी बह गया और सहज ही बोल पड़ा- “हाँ, यह तो सच है।”

उदय काका के मन में एक क्षण के लिए यह विचार उठा कि राधाकांत सोच-समझकर उत्तर दे रहा है या केवल उनके विचारों के

प्रवाह में बह गया है। लेकिन वे इस उलझन में पड़े बिना बात को आगे बढ़ाते हुए बोले-

“राधाकांत, जैसे तुम्हारे मन में समाज की इस घटना को लेकर जिज्ञासा है, वैसे ही मेरे मन में भी है। इसलिए बेहतर होगा कि हम दोनों चलकर घटना स्थल पर स्वयं देखें और अपने कानों से सुनें।”

उदय काका की बात मुझे उचित लगी। मैंने कहा-

“चलो, रास्ते में बातचीत भी होती रहेगी।”

हम दोनों चल पड़े। थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि उदय काका फिर अपने पहले विचार पर लौटते हुए बोले-

“राधाकांत, हम लोग जिस समाज में पैदा हुए हैं, वह पहले से बना-बनाया है। किसी भी समाज का निर्माण रातों-रात पंचायत बैठाकर नहीं हुआ है। किसी भी विचार, व्यवहार या व्यवस्था को ठोस रूप लेने में सैकड़ों-हज़ारों वर्ष लगते हैं। पर अभी उस विषय पर चर्चा करना उचित नहीं होगा। पहले उस घटना को देख लेना चाहिए, जो समाज के बीच घटी है।”

थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि सामने से मनोहर भाई आते दिखाई दिए। उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। पास आते ही उन्होंने हाथ से आँसू पोंछे और उदय काका की ओर देखते हुए कहा-

“काका, आज के समय में ऐसी घटना बेहद शर्मनाक है।”

वैसे तो मनोहर भाई और उदय काका विचार और व्यवहार के पुराने साथी रहे हैं, इसलिए मनोहर भाई की बात की गंभीरता को उदय काका भली-भाँति समझ गए और चुप हो गए। लेकिन मैं पूरी तरह समझ नहीं पाया कि वे कहना क्या चाहते हैं। मैंने पूछा-

“भाई, ज़रा साफ-साफ बताइए।”

मनोहर भाई बोले- “मोतीलाल को तो तुम पहचानते ही हो, वही

जो हमारे गाँव में एकघरा है। एकघरा का मतलब होता है किसी टोले में किसी जाति का एकमात्र परिवार।”

मैंने कहा-

“हाँ, पहचानता हूँ। वे तो बरसों से यहाँ हैं। सुना है उनके खेत, पथार और घर-घाड़ी सभी खतियानी हैं।”

मनोहर भाई ने आगे कहा-

“मोतीलाल का बेटा सुशील और भजनलाल की बेटी राधा, दोनों साथ-साथ कॉलेज में पढ़ते हैं। उनके बीच मेलजोल था। रात में दोनों घर से निकल गए।”

मैं बोल पड़ा-

“ऐसी घटनाएँ तो आजकल गाँव-गाँव में होती रहती हैं।”

मनोहर भाई ने कहा-

“हर गाँव की घटनाओं के अपने अलग रूप होते हैं। लेकिन हमारे गाँव में जो हुआ है, वह बहुत ही दर्दनाक है। निर्दोष माता-पिता, यानी मोतीलाल और उनकी पत्नी को टोले के लोगों ने मार डाला।”

❑

नियति

☰

सात दिन बाद पटना से लौटा था। हाथ-पैर तक नहीं धो पाया था। इतनी दौड़-भाग हुई थी कि शरीर के साथ-साथ मन भी बुरी तरह थक गया था। शरीर की थकान यात्रा और भागदौड़ से थी, और मन की थकान इस वजह से कि जिस काम के लिए गया था, उसकी सारी तैयारी कर लेने के बाद भी हाई कोर्ट में फैसले के दिन मामला टल गया और अब तीन महीने बाद की तारीख मिल गई।

इसके ऊपर से एक और कड़वा अनुभव यह भी है कि अपने जीवन में एक मामला छत्तीस-सैंतीस वर्षों में निपटा और दूसरा इकतालीस वर्षों में।

पत्नी मेरी मनःस्थिति को भाँप गई थी कि मैं किसी सुखद समाचार के साथ नहीं लौटा हूँ। काम का लड्डू न मिलना ही इस बार की खबर थी। यह भी सच है कि जब कोई काम पूरा होता है, तब लड्डू या प्रसाद बाँटा जाता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बाँटने को कुछ होता ही नहीं। ऐसे में यही माना जाता है कि समझदार के लिए संकेत ही काफी होता है। जो समझना है, वह खुद ही समझ ले।

फिर भी पत्नी ने अपने सलीके और मर्यादा को निभाते हुए कहा- “गरमाया हुआ पानी पीना ठीक नहीं होगा, इसलिए पहले कुछ खा लीजिए।”

मेरा मन अभी भी अपने अधूरे काम और उसके खर्चे में डूबा हुआ था। अब तीन हजार रुपये और खर्च करने होंगे। सवाल यह है कि सिर्फ तीन हजार रुपये के लिए मन इतना चिंतित क्यों हो गया?

असल बात यह है कि पैसे की कीमत तब होती है जब उसका उपयोग सही जगह किया जाए। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि केवल बना-बनाया जीवन ही अच्छा होता है, क्योंकि वह कभी-कभी बोझिल भी हो सकता है। जीवन की परिस्थितियों के अनुसार पैसे का इस्तेमाल ही उसका सदुपयोग है। यही तो विवेक कहलाता है।

मैंने पत्नी की बातों का कोई उत्तर नहीं दिया, यहाँ तक कि हाँ-हूँ तक भी नहीं कहा।

उसे अच्छी तरह पता है कि मैं बाहर से किस समय घर लौटता हूँ और लौटने पर क्या माँग करता हूँ। चाय के साथ लोटे में पानी लेकर वह सामने बैठ गई और मेरे चेहरे की ओर देखते हुए बोली-

"अब गाँव में दहेज की समस्या खत्म हो जाएगी।"

पत्नी की बात सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। जिस समस्या से जूझते हुए न जाने कितने माता-पिता टूट गए हैं और आज भी टूट रहे हैं, क्या केवल बातचीत के सहारे दहेज की समस्या सच में खत्म हो सकती है?

फिर मन में यह विचार भी उठा कि जो समस्या मनुष्य ने स्वयं बनाई है, उसे मनुष्य क्यों नहीं मिटा सकता। अपने ही उदाहरण को सामने रखते हुए मैंने कहा-

"आपको यह बात समझ में आ रही है या नहीं, यह आप ही जानेंगी। लेकिन हमारा विवाह भी तो बिना दहेज के हुआ था। क्या उससे समाज में दहेज खत्म हो गया?"

मेरे मुँह से विवाह का नाम सुनते ही पत्नी का मन अतीत में

चला गया। उसका ध्यान इस बात पर नहीं गया कि मैंने क्या कहा- बल्कि वह विचारों में डूब गई। वह पहुँच गई उस स्मृति में, जब विवाह से एक दिन पहले कुमरम हो रहा था।

जिन माता-पिता के मुँह से आज कुमरम के गीत सुनाई देते हैं, उन्हीं के मुँह से कल विवाह के गीत भी सुनाई देंगे। पत्नी के मन में जैसे अचानक कुछ टकराया और सोच की दिशा बदल गई। वह बोली-

"आप सात दिनों से गाँव में नहीं थे, इसलिए बीच की बात आपको पता नहीं होगी।"

मैंने कहा-

"कैसे पता होता? जब गाँव में था ही नहीं, तो जानने का कोई कारण ही नहीं था।"

मेरे गाँव लौटने की खबर टोले के लोगों को भी लग चुकी थी। यह मामला गाँव के बीच का था। हमारे टोले में पच्चीस-तीस घर हैं। वे सभी एक जाति के नहीं, बल्कि पाँच-छह जातियों के लोग एक साथ रहते हैं। जमीन के टुकड़े भी आपस में जुड़े हुए हैं, इसलिए एक तरह की सामूहिक परंपरा विकसित हो गई है।

हालाँकि इस सामूहिकता के भी दो स्वरूप हैं। एक है सामाजिक रूप से मिली-जुली परंपरा, और दूसरा है जातियों के भीतर चलने वाली परंपरा।

यह बात समझी हुई है कि जैसे देवी-देवताओं की अपनी-अपनी पसंद होती है। कोई विशेष फूल, फल या मिठाई उन्हें प्रिय होती है। समाज के लोग उसी के अनुसार उन्हें अर्पित करते हैं। कुछ देवी-देवता कुछ विशेष जातियों से जुड़े माने जाते हैं और कुछ अन्य देवी-देवता दूसरी जातियों से।

लेकिन हमारे टोले में यह भेद नहीं है। यहाँ के लोग खुले मन से

यह मानते हैं कि जो व्यक्ति ब्रह्म या ईश्वर को सच में जानता है और पहचानता है, वही उसे पा सकता है, और वही उसका सच्चा भक्त होता है।

गाँव-घर में जितनी भी उथल-पुथल है, या जो भी अंधविश्वास फैले हुए हैं, वे वास्तव में छल, कपट और धोखाधड़ी के रूप हैं।

पाँच-छह जातियों वाले इस टोले में आपसी संबंध इतने घनिष्ठ हैं कि एक-दूसरे के सुख-दुख को सभी लोग अपना ही सुख-दुख मानकर निभाते हैं। एक-दो नहीं, बल्कि तीन-चार पुरुष और चार-पाँच महिलाएँ वहाँ पहुँच गईं। यह समाज के बीच की घटना थी, इसलिए सभी के मन में स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा जाग उठी थी कि आगे क्या होगा और क्या नहीं होगा।

हालाँकि थकान के कारण मेरा शरीर और मन दोनों बुरी तरह चूर-चूर हो चुके थे और बातचीत करने की कोई इच्छा नहीं हो रही थी, फिर भी जब सामाजिक चेतना जाग जाती है, तब व्यक्तिगत इच्छा अपने आप पीछे हट जाती है।

इसी बीच मैंने एक लोटा पानी पिया और चाय भी ले ली थी। कपड़े बदलने की तैयारी कर रहा था। गंजी और कुरता उतारकर लुंगी पहन ली थी और उतारे हुए कपड़ों को धूप में फैलाने ही जा रहा था कि एक-एक करके सब लोग पहुँचने लगे। वहाँ मेरी ही उम्र के साथी भी थे, और मुझसे कुछ कम या अधिक उम्र के लोग भी। कुल मिलाकर एक पूरा समूह बन गया।

मैं चुप ही रहा, जो उस समय उचित भी था, क्योंकि गाँव में न रहने के कारण मुझे पूरी जानकारी नहीं थी।

उचितलाल भैया बोले-

“विमल, तुम गाँव में नहीं थे, इसलिए तुम्हें पता नहीं होगा।”

बीच में दुआरमवाली भौजी का मन भी कुछ कहने को हो रहा था, लेकिन अब गाँव के लोगों में इतनी सामाजिक चेतना आ चुकी थी कि यदि कोई बोल रहा हो, तो पहले उसके विचार ध्यान से सुने जाएँ।

मैंने कहा-

“हाँ, यह बात मुझे नहीं पता थी।”

उचितलाल भैया बोले-

“गाँव में सभी जानते हैं कि बाबूलाल की बेटी रुक्मिणी और जियालाल का बेटा श्याम एक ही कॉलेज की एक ही कक्षा में पढ़ते हैं।”

यह बात मुझे भी मालूम थी। मैंने कहा-

“हाँ, वे पढ़ते तो हैं।”

उन्होंने आगे बताया,

“कॉलेजों में साल में एक बार विद्यार्थियों और शिक्षकों को घूमने-फिरने के लिए आर्थिक सहायता मिलती है। उसी क्रम में श्याम और रुक्मिणी भी पुष्कर गए थे।”

मुझे यह जानकारी थी कि कॉलेजों में टूर का आयोजन होता रहता है। मैंने मुस्कुराते हुए कहा-

“वाह, घूमना-फिरना जीवन की प्रक्रिया का एक ज़रूरी हिस्सा होना चाहिए। जैसे भीतर की दुनिया को देखने के लिए दृष्टि चाहिए, वैसे ही बाहरी दुनिया को समझने के लिए आँखों को खुला होना चाहिए।”

इसी बीच, जैसे सिलाई में सुई घुमा दी जाए, वैसे ही भगवानपुरवाली भौजी बोल पड़ीं-

“ऐसी ज़िद में माँ-बाप और गाँव-समाज को नहीं भूलना चाहिए। हम सब जानते हैं कि आज भी हम लोग साहोर की दतवन

करते हैं और नई पीढ़ी ब्रश करती है। जैसे समय बदल रहा है, वैसे ही हमें भी अपनी चाल-ढाल बदलते चलना चाहिए।”

भगवानपुरवाली भौजी पंचायतिया स्वभाव की महिला हैं। उन्हें आज से नहीं, बल्कि हमेशा से हम सम्मान देते आए हैं। इसलिए उनकी बात ध्यान से सुनी। बात अच्छी लगी।

मन में यह विचार भी आया कि उनकी बात में अपनी ओर से यह जोड़ा जा सकता है कि भौजी, पुराने समय के लोगों को समय और गणना समझने में कठिनाई होती थी, इसलिए सतयुग से त्रेता आने में हजारों वर्ष लग गए। लेकिन हम तो इक्कीसवीं सदी के लोग हैं।

पुराने लोग कहा करते थे कि कलियुग में लोग सीढ़ी लगाकर बैंगन तोड़ेंगे। अब आप ही बताइए, क्या ऐसा होता है? आज लोग हवाई जहाज़ में चढ़कर आकाश में ही विवाह कर लेते हैं और वहीं भोजन भी करते हैं। लेकिन बैंगन तोड़ने के लिए क्या सीढ़ी लगाते हैं?

आज का मनुष्य खुले दिमाग से यह समझने लगा है कि मन एक ही दिन में साठ हजार बार चलायमान होता है, और यह धरती और आकाश सदा से गतिशील हैं। इसलिए यह मानना कि सब कुछ स्थिर है, एक भ्रम ही है।

लेकिन यह सब मैंने इसलिए नहीं कहा- क्योंकि समाज के बीच इस समय जो माहौल बन चुका है, वह दूसरी दिशा में सोचने का अवसर ही नहीं देता।

जब समाज में विवाह की पद्धति बनी थी, तब का समाज और आज का समाज बहुत आगे बढ़ चुका है। ऐसे में, परिवेश और पद्धति के बीच संतुलन कैसे बने, यह हम सभी को मिलकर तय करना होगा।

मैंने भगवानपुरवाली भौजी से पूछा- “भौजी, क्या आपको जड़

से शिखर तक पूरी बात पता है?”

भगवानपुरवाली भौजी कुछ झिझकते हुए बोलीं-

“नहीं।”

मैंने कहा-

“तो फिर?”

‘तो फिर’ सुनते ही भौजी ने उचितलाल भैया की ओर इशारा करते हुए कहा-

“भइया को सब पता है, वही बताएँगे।”

उचितलाल भैया बोले-

“कॉलेज का पूरा बैच, जिसमें छात्र और शिक्षक दोनों शामिल थे, टूर प्रोग्राम के तहत पुष्कर गया था। वहाँ यह भी पता चला कि पाँच जोड़ियों की शादी हुई। उनमें से एक जोड़ी हमारे ही गाँव की थी, यानी श्याम और रुक्मिणी की।

पुष्कर के दक्षिणी घाट पर, जहाँ ब्रह्माजी का मंदिर है, वहीँ एक पुजारी की उपस्थिति में दोनों का विवाह संपन्न हुआ। राजस्थान के पुष्कर नगर के चारों घाटों पर ब्रह्मा मंदिर स्थित हैं और वहाँ विवाह की धार्मिक मान्यता भी है। अब दोनों गाँव लौट आए हैं।”

यह सुनकर मेरी दृष्टि तत्काल समाज की रूढ़ियों से हट गई और मैं बोल पड़ा-

“यह तो बहुत अच्छा हुआ। समाज से दहेज पंचायत के फैसलों से नहीं, बल्कि परिवर्तन से मिटेगा। इसके बाद क्या हुआ?”

उचितलाल भैया बोले-

“गाँव लौटने के बाद रुक्मिणी अपने माता-पिता के घर नहीं गई और श्याम के घर ही रह रही है। हालाँकि गाँव में थोड़ी बहुत तनातनी

बनी हुई है, फिर भी हम सब विचार के स्तर पर श्याम का समर्थन कर रहे हैं।”

मैंने पूछा-

“किसी अप्रिय घटना की आशंका तो नहीं है?”

उचितलाल भैया ने उत्तर दिया-

“दोनों पक्ष समान रूप से सशक्त हैं, इसलिए किसी अप्रिय घटना की संभावना नहीं है। विचार-विमर्श से ही समाधान निकल आएगा।”

❑❑❑
❑❑
❑

Notes

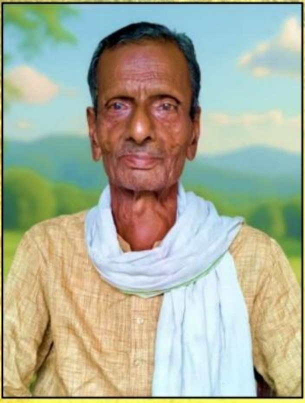

जगदीश प्रसाद मण्डल

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल बिहार के मधुबनी ज़िले के बेरमा गाँव के निवासी हैं। उनका जन्म 5 जुलाई 1947 को हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने दो विषयों में एम.ए. की उपाधि अर्जित की। औपचारिक शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए कृषि को अपनाया, विशेषकर सब्ज़ी की खेती को, और अपने गाँव तथा समाज से जुड़े हुए सादगीपूर्ण जीवन को वरण किया। ग्रामीण समाज में व्याप्त रूढ़ियाँ, शोषण और सामंती प्रवृत्तियों ने उनके संवेदनशील मन को गहराई से प्रभावित किया। इन परिस्थितियों के प्रति वे केवल दर्शक बनकर नहीं रहे, बल्कि समाज के साथ खड़े होकर संघर्ष का मार्ग अपनाया। इस दौरान वे अनेक गोष्ठियों और जनचर्चाओं से जुड़े, कई सामाजिक आंदोलनों में भाग लिया, मुकदमों का सामना किया और कई बार जेल भी गए। लगभग पैंतीस वर्षों तक वे सामाजिक सरोकारों से सक्रिय रूप से जुड़े रहे। सन् 2000 के बाद उन्होंने अपने जीवनानुभवों और संघर्षों को साहित्यिक अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ किया। तब से उनका लेखन मैथिली साहित्य में एक सशक्त उपस्थिति के रूप में स्थापित हुआ है। उनके उपन्यासों, कहानियों और अन्य गद्य रचनाओं में ग्रामीण जीवन का यथार्थ, सामाजिक विषमता, मानवीय संवेदना और संघर्षशील चेतना का सशक्त चित्रण मिलता है। इस कारण उनका साहित्य केवल रचनात्मक कृतित्व ही नहीं, बल्कि समाज के जीवंत अनुभवों का दस्तावेज़ भी माना जाता है। उनकी रचनात्मकता ने व्यापक पाठक-समाज को प्रभावित किया है और अनेक लोगों को उनकी कृतियों के अध्ययन तथा अनुवाद के लिए प्रेरित किया है। अपने उल्लेखनीय साहित्यिक योगदान के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार, टैगोर साहित्य पुरस्कार, अमर शहीद रामफल मण्डल राष्ट्रीय पुरस्कार, यात्री चेतना पुरस्कार, विदेह सम्मान तथा राजकमल चौधरी साहित्य सम्मान सहित अनेक प्रतिष्ठित अलंकरण प्राप्त हुए हैं।आज श्री जगदीश प्रसाद मण्डल अपनी सहजता, सकारात्मक दृष्टि और जनोन्मुख साहित्यिक प्रतिबद्धता के कारण समकालीन मैथिली साहित्य में एक विशिष्ट एवं सम्मानित स्थान रखते हैं।

झौली पासवान

झौली पासवान का जन्म 9 मई 1957 को बिहार के मधुबनी ज़िले के वीरसायर गाँव में हुआ। उनके पिता स्वर्गीय गरीबनाथ पासवान तथा माता स्वर्गीय फुलेसरी देवी थीं। उन्होंने आर.एन. कॉलेज, पण्डौल (मधुबनी) से स्नातक की शिक्षा प्राप्त की। उनकी पत्नी का नाम श्रीमती रेणु देवी है।

झौली पासवान का जीवन शिक्षा, सामाजिक चेतना और साहित्य सेवा को समर्पित रहा है। वर्ष 2001 से वे वर्दीवन और सकरी स्थित प्रभात संस्था से जुड़कर विशेष रूप से दलित, विशेषकर मुसहर समुदाय के बच्चों को शिक्षित करने तथा उनमें सामाजिक जागरूकता विकसित करने का कार्य कर रहे हैं। वर्ष 2003 से 2005 तक उन्होंने राष्ट्रीय दलित मानवाधिकार अभियान के अंतर्गत निरीक्षण संबंधी दायित्व भी निभाया। सामाजिक कार्यों के साथ वे सांस्कृतिक गतिविधियों में भी सक्रिय रहे हैं। रमेश रंजन द्वारा निर्मित फिल्म 'हमर मिथिला' में उन्होंने पिता की भूमिका निभाई तथा प्रभात संस्था द्वारा प्रकाशित बाल पत्रिका 'खिलते फूल' के प्रकाशन में भी योगदान दिया। 'रोशनी' कार्यक्रम के माध्यम से उन्होंने मुसहर बालिकाओं में शैक्षिक जागरूकता फैलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। वर्तमान में वे सरकारी विद्यालयों के कमजोर विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाकर उन्हें शिक्षा के प्रति प्रेरित कर रहे हैं।

साहित्य के क्षेत्र में उनकी प्रमुख हिंदी कृति 'सोलह सुमन' (कविता संग्रह) है। इसके अतिरिक्त 'माँ का आँचल', 'पर्दा' और 'सारथी' जैसी रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। मैथिली में उनकी कृतियाँ 'माटिक सुगन्ध' और 'अक्षय पात्र' प्रकाशित हैं। उनके सामाजिक और साहित्यिक योगदान के लिए उन्हें वर्ष 2021 में भारतीय दलित साहित्य अकादेमी, दिल्ली द्वारा 'अम्बेडकर फेलोशिप' सम्मान से सम्मानित किया गया।

पल्लवी प्रकाशन
नेहरू मार्ग, तुलसी भवन, निर्मली,
जिला- सुपौल, बिहार: 847452

Rs. 399/-

ISBN: 978-93-48865-46-5
9789348865465